मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 137 ● वर्ष 15, अंक 1 ● अप्रैल 2025 ● दस रुपये

विशेष अंक
24 पृष्ठ

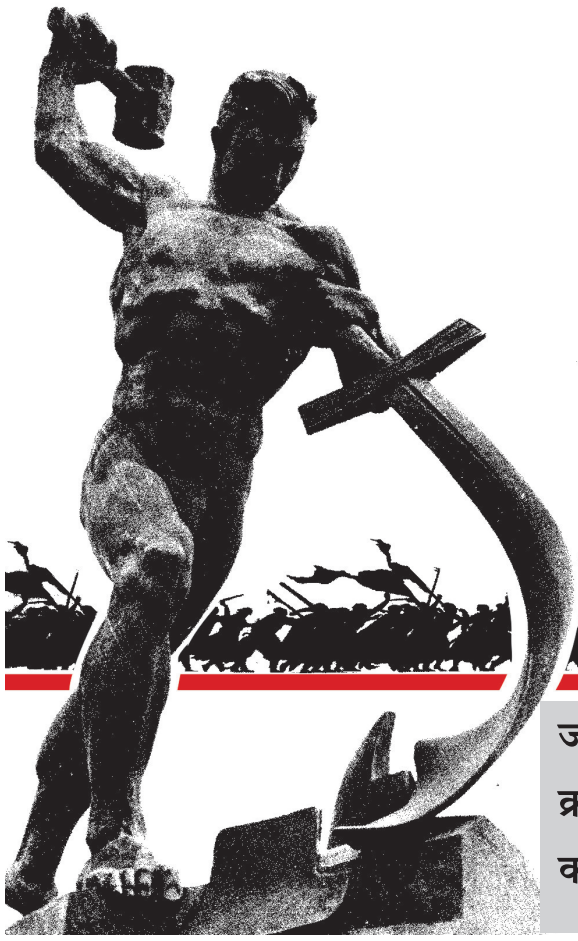

मज़दूर बिगुल

जोतिबा फुले की क्रान्तिकारी विरासत को जानो! 7

वक़्फ़ क़ानून में नये संशोधनों पर मज़दूर वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए? 10

साम्प्रदायिक फ़ासीवादी दौर में घटता जनवादी स्पेस व बढ़ते छात्र-युवा आन्दोलन 9

भारत की मेहनतकश जनता को फ़िलिस्तीन की जनता का साथ क्यों देना चाहिए?

भारत के लोगों को औपनिवेशिक नस्लवादी इज़रायल का विरोध क्यों करना चाहिए?

विशेष सम्पादकीय अग्रलेख

बहुत-से मज़दूर और मेहनतकश साथियों के मन में यह प्रश्न आ सकता है कि भला भारत के एक मज़दूर अख़बार के लिए, भारत के मज़दूरों और मेहनतकशों के लिए फ़िलिस्तीन के मसले की क्या प्रासंगिकता है? क्या हमारी अपनी समस्याएँ ही पर्याप्त नहीं हैं कि हम उस पर सोचें, बात करें और उसे हल करने की दिशा में काम करें? आपके मन में ऐसे प्रश्नों का उभरना वाजिब है। वजह यह कि हमारे देश में फ़िलिस्तीन के मसले को लेकर जागरूकता की बेहद कमी है। पहले भी थी, लेकिन नवउदारवादी नीतियों व शासन की शुरुआत के बाद से और विशेष तौर पर आज के फ़ासीवादी दौर में जो थोड़ी-बहुत जागरूकता थी, वह भी कम हो गयी है। ऐसे में, हम ऊपर उठाये गये सवालों का जवाब कुछ नुक़्तों में देंगे।

फ़िलिस्तीन का सवाल हमारे समय का एक लिटमस पेपर टेस्ट है। यानी, इस जाँच से पता लगाया जा सकता है कि कौन इन्साफ़पसन्द, तरक़्क़ीपसन्द और इन्सानियत में भरोसा करने वाले लोग हैं और कौन लोग ऐसे हैं जो शारीरिक तौर पर दो पाँव-दो हाथ रखते हैं, लेकिन इन्सान होने की तार्किक और भावनात्मक शर्तों को खो चुके हैं। इसलिए सबसे पहले इस मसले की सच्चाई को समझ लेते हैं। इसके आधार पर ही हम यह तय कर सकते हैं कि हम मज़दूरों, मेहनतकशों का और आम तौर पर भारत के लोगों का इस मसले पर क्या रुख़ होना चाहिए। सबसे पहले तो यह जान लेते हैं कि फ़िलिस्तीन का मसला ***क्या नहीं है।***

फ़िलिस्तीन का मसला धर्म का मसला नहीं है

हमारे देश में जो सबसे बड़ी ग़लतफ़हमी है जो लोगों के दिमाग़ में अक्सर देखने को मिलती है वह यह है कि फ़िलिस्तीन के मसले का इस्लाम धर्म, मुसलमानों और यहूदी धर्म व लोगों के बीच झगड़े से कोई लेना-देना है। कई लोगों को लगता है कि फ़िलिस्तीन मुसलमानों का मुल्क है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इसे इज़रायल के यहूदी सेटलरों (सेटलर – जो किसी जगह जाकर रहने लगते हैं या बस जाते हैं) और फ़िलिस्तीन के मुसलमानों के बीच का झगड़ा समझते हैं। तो सबसे पहले हमें जान लेना चाहिए कि इस मसले का मज़हब या अलग-अलग धार्मिक समुदायों के झगड़े से कोई लेना-देना नहीं है और न ही कभी रहा है।

फ़िलिस्तीन में न सिर्फ़ मुसलमान रहते हैं बल्कि ख़ुद अरब जगत के मूल यहूदी, ईसाई और साथ ही बद्दू क़बीले के लोग भी रहते हैं। ये लोग वहाँ के मूल बाशिन्दे हैं और हज़ारों साल से वहीं रह रहे हैं। 1917 में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा हस्तक्षेप और 1920, 1930 और 1940 के दशकों के दौरान यूरोप के नस्लवादी, साम्राज्यवादी और कट्टरपन्थी यहूदी संगठनों (जिन्हें ज़ायनवादी कहा जाता है) के साथ मिलीभगत के ज़रिये फ़िलिस्तीन पर कब्ज़ा कर वहाँ एक सेटलर उपनिवेश स्थापित करने की साज़िश के पहले, फ़िलिस्तीन में मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बद्दू क़बीलों के लोग एक साथ रहते आये थे। उनमें कभी कोई साम्प्रदायिक झगड़ा, नस्ली मार-काट या क़त्लेआम नहीं होता था। अरब में रह रहे मूल अरबी यहूदियों के साथ भी ऐसा नहीं होता था। वास्तव में, यहूदियों के साथ यहूदी-विरोधी यानी एण्टी-सेमिटिक दंगे, क़त्लेआम आदि यूरोपीय देशों और अमेरिका में हो रहे थे, फ़िलिस्तीन में नहीं। वहाँ तो हज़ारों साल से विभिन्न धार्मिक व जातीय (एथनिक) समुदाय साथ रहते आये थे।

वहाँ की यह स्थिति तब बदली जब यूरोप के साम्राज्यवादी, नस्लवादी, कट्टरपन्थी यहूदी संगठनों ने ब्रिटिश व पश्चिमी साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़ कर फ़िलिस्तीन में जबरन यहूदियों का सेटलर उपनिवेश बनाने के ख़तरनाक मंसूबों पर अमल करना शुरू किया। जर्मनी में नात्सी पार्टी व हिटलर के शासन के दौरान यहूदी जनता का जो क़त्लेआम जारी था, उसके कारण

(पेज 13 पर जारी)

महँगाई की बढ़ती मार! चुप क्यों है मोदी सरकार!!

रसोई गैस के दाम और पेट्रोल-डीज़ल पर कर बढ़ाकर मोदी सरकार का जनता की गाढ़ी कमाई पर डाका!

● सनी

मोदी सरकार ने 9 अप्रैल से रसोई गैस के दाम 50 रुपये बढ़ा दिये हैं और पेट्रोल और डीज़ल के करों में भी 2 रुपये की बढ़ोत्तरी की है। इसका क्या असर होगा, यह हम मेहनतकश समझ सकते हैं। इसके कारण, समूची महँगाई में ही बढोत्तरी होगी क्योंकि ये वे उत्पाद हैं, जिनकी क़ीमत बढ़ने के कारण उन सभी वस्तुओं और सेवाओं की क़ीमत बढ़ेगी जिनके उत्पादन में ईंधन व सहायक सामग्री के तौर पर इनका इस्तेमाल होता है। नतीजा होगा सरकार द्वारा इन उत्पादों पर अप्रत्यक्ष कर बढ़ाये जाने के फलस्वरूप इनकी क़ीमतों में बढ़ोत्तरी और आम तौर पर मेहनतकश आबादी के लिए महँगाई में बढ़ोत्तरी।

यह वही भाजपा है जिसने दिल्ली विधानसभा चुनाव से पहले ख़ुद को ग़रीब-हितैषी दिखाने की कोशिश में झुग्गी के बदले पक्का मकान और फ्री एलपीजी सिलिण्डर देने का वायदा किया था। भाजपा शीश-महल विरोधी होने और दिल्ली में अमृत काल के शुरू होने की बात कर रही थी। यह वही भाजपा है जिसकी नेता स्मृति ईरानी सिलेण्डर की क़ीमत के बढ़ने पर सड़कों पर आकर सिलिण्डर-नृत्य करना शुरू कर देती थी। लेकिन अब भालू की तरह शीतनिद्रा में चुप्पी साधे बैठी हैं! भाजपा के स्वर्ण-काल की पहली सौगात यही है कि अब ग़रीबों के लिए खाने-पीने से लेकर हर वस्तु और महँगी हो जायेगी।

भाजपा का झूठ: ग़रीबों पर बढ़ता करों का बोझ और अमीरों को खूली छूट!

गैस सिलिण्डर के दाम आईपीपी (import parity price (IPP)) यानी आयात समता क़ीमत से तय होते हैं और यह भी अन्ततः कच्चे तेल की क़ीमत से ही निर्धारित होता है। जब अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत कम हुई हैं तो गैस सिलिण्डर के दाम यह कहकर बढ़ाना कि अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में क़ीमतें अधिक हैं, जनता से सफ़ेद झूठ बोलना है!

दूसरी तरफ़ पेट्रोल-डीज़ल पर मोदी सरकार द्वारा एक्साइज़ ड्यूटी में बढ़ोतरी की गयी है। पेट्रोल पम्प पर क़ीमत में फ़िलहाल यह बढ़ोत्तरी नहीं दिखेगी क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत कम हुई है लेकिन यह हर हमेशा नहीं रहेगा और जैसे ही क़ीमतें बढेंगी इसका बोझ जनता के सर पर ही पड़ने वाला है। भाजपा के मन्त्री कह रहे हैं कि दरअसल सरकारी पेट्रोलियम कम्पनियाँ लम्बे समय से नुक़सान झेल

(पेज 23 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

देशभर में त्योहारों का इस्तेमाल कर रही है भाजपा साम्प्रदायिक नफ़रत फैलाने में

(पेज 5 से आगे)

प्रचार के अलावा वे अपनी सदाचारी, साफ़-सुथरी, राष्ट्र-सेवक, गरीब का दुख-दर्द समझने वाली नकली छवि गढ़ते हैं। लेकिन जब फ़ासीवादी ताक़तें सत्ता में होती हैं तो इनके भयंकर भ्रष्टाचारी, मज़दूर-विरोधी, पूँजीपरस्त चेहरे पर पड़ा रामनामी दुपट्टा हटने लगता है। भाजपा के सत्ता में आने के बाद से पीएम केयर घोटाला से लेकर, इलेक्टोरल बॉण्ड घोटाला, विद्युत वितरण अनुबन्ध में अडानी को मालामाल करने जैसे दर्जनों घोटाले सामने आ चुके हैं। छात्रों-युवाओं को रोज़गार देने का झाँसा देने वाली मोदी सरकार के कार्यकाल में रोज़गार सृजन की दर ऋणात्मक हो चुकी है। बेरोज़गारी पुराने सारे रिकॉर्ड तोड़ चुकी है। पक्की नौकरियों को या तो ख़त्म किया जा रहा है या फिर ठेके/संविदा के हवाले किया जा रहा है। कर्मचारियों के हक़ों पर नये-नये हमले जारी हैं। मज़दूरों के मेहनत की लूट पर श्रम-क़ानूनों से जो पहले थोड़ी-बहुत सुरक्षा मिलती भी थी उसे बहुत योजनाबद्ध तरीक़े से मोदी सरकार द्वारा ख़त्म किया जा चुका है या किया जा रहा है। मोदी सरकार द्वारा लाये गये चार 'नये लेबर कोड' के ज़रिये मज़दूरों के काम के घण्टों को क़ानूनी तौर पर बढ़ाकर 12 घण्टे करने की योजना है। मँहगाई चरम पर है और जन-कल्याणकारी योजनाओं में किया जा रहा खर्च हर बार के बजट में घटाया जा रहा है। पूँजीपतियों को छूट दी जा रही है जबकि जनता पर टैक्स का बोझ बहुत ज़्यादा बढ़ा दिया गया है।

कुल मिलाकर, मुनाफ़े की घटती दर से बिलबिलाये पूँजीपति वर्ग की सेवा में मोदी सरकार पूरी मुस्तैदी से डटी हुई है। लेकिन इसका दूसरा पहलू यह है कि मेहनतकश जनता को मोदी द्वारा दिखाये गये सब्ज़बाग की पोलपट्टी बहुत तेज़ी से खुलती जा रही है। जनता में असन्तोष बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में जनता का ध्यान असली समस्याओं से हटाने के लिए त्योहारों का इस्तेमाल कर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को निरन्तरता में बनाये रखना भाजपा व संघ परिवार की फ़ासीवादी राजनीति की ज़रूरत है। त्योहारों में बड़े पैमाने पर खर्च कर सरकारी मशीनरी व संघ के आनुषंगिक संगठनों के ज़रिये इसको अमल में लाया जा रहा है। मेहनतकश जनता को फ़ासीवादी भाजपा व संघ परिवार की इस साज़िश से सावधान रहते हुए अपने असली माँगों पर लामबन्द होना होगा और फ़ासीवादी ताक़तों के साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का जवाब अपनी वर्गीय एकता से देना होगा।

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।

2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।

3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)

4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिये जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 8853476339

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।

मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

दिल्ली बजट 2025 – दिल्ली की आँगनवाड़ीकर्मियों व मेहनतकश महिलाओं के साथ भाजपा का एक और भद्दा मज़ाक!

● प्रियम्वदा

भाजपा सरकार के चुनावी वायदों की हक़ीक़त से इस देश की मेहनतकश आवाम पहले ही परिचित थी। दिल्ली चुनाव में भी इस पार्टी ने आम जनता पर झूठ और जुमलों की बारिश करने में कोई कमी नहीं छोड़ी और सत्ता सँभालते ही अपना असली रंग दिखाना शुरू कर दिया।

दिल्ली में 25 मार्च को भाजपा सरकार ने "ऐतिहासिक बजट" पेश किया। इस बजट की ऐतिहासिकता इस बात में है कि भाजपा सरकार के झूठ और मज़दूर-विरोधी, महिला-विरोधी कारनामों को इसमें पहले से कहीं अधिक लच्छेदार भाषा में लाया गया है। मुख्यमन्त्री रेखा गुप्ता ने एक लाख करोड़ के इस बजट को पेश करते हुए इसे महिलाओं के नाम, दिल्ली के लोगों के स्वास्थ्य के नाम और समाज सेवा जैसे मसलों के हवाले करने का गुब्बारा फुलाया। लेकिन हर बार की तरह इस बजट में भी दिल्ली की मेहनतकश आबादी को सिर्फ़ सुहावने सपने ही मिले हैं। असलियत में भाजपा सरकार का यह बजट दिल्ली के मेहनतकशों, महिलाओं के शोषण को बढ़ाने और उनके रहे-सहे अधिकारों को कुचलने की शुरुआत का बजट है।

मोदी सरकार के विकास का नायाब मॉडल : आँगनवाड़ी की योजनाओं के बजट में कटौती कर "सक्षम आँगनवाड़ी" स्कीम होगी लागू!

पिछले 11 सालों के राज में मोदी सरकार ने आँगनवाड़ी की स्कीम में ज़मीनी स्तर पर कार्यरत महिलाकर्मियों के लिए सिवाय घोषणाओं के कुछ भी जारी नहीं किया है! 2018 में दिवाली तोहफ़े के तौर पर आँगनवाड़ीकर्मियों के लिए जो मामूली वृद्धि की घोषणा की थी वो भी जुमला ही साबित हुई। देशभर में कर्मचारी के अधिकार को लेकर संघर्षरत महिलाकर्मियों की माँग भी इस सरकार की प्राथमिकताओं से बाहर है।

पक्के रोज़गार और न्यूनतम मज़दूरी की बात तो दूर, इस सरकार ने आँगनवाड़ीकर्मियों को मिलने वाले मानदेय के बजट को 221 करोड़ से घटकर 206 करोड़ कर दिया गया है। यानी दिल्ली के कुल बजट का मात्र 0.20 प्रतिशत ही महिला एवं बाल विकास परियोजना को दिया गया है। एक तरफ़ मोदी सरकार 'सक्षम आँगनवाड़ी' के तहत आँगनवाड़ी केन्द्रों पर वाईफ़ाई, एलईडी स्क्रीन, वॉटर प्यूरिफ़ायर इत्यादि लगाने की योजना बना रही है और दूसरी तरफ़ बजट में कटौती कर रही है। महिलाओं को समृद्ध करने के प्रचार में लाखों रुपये बहा रही है लेकिन महिलाओं को मिलने वाली मज़दूरी की मामूली राशि को बढ़ाने का नाम नहीं ले रही है!

पहले ही इस योजना के तहत कार्यरत महिलाओं की स्थिति और लाभार्थियों को मिलने वाली सुविधाओं की स्थिति बदहाल थी। आँगनवाड़ी केन्द्रों में होने वाले ख़र्चे (जैसे कि रजिस्टर, खिलौने, चटाई इत्यादि) हो या अन्नप्राशन और गोदभराई जैसे सरकारी कार्यक्रमों का ख़र्च हो, यह सब आँगनवाड़ीकर्मियों के मिलने वाले मामूली मानदेय से चलता है। आँगनवाड़ी केन्द्रों में हालात ऐसे हैं कि छोटे बच्चों के बैठने तक का भी समुचित इन्तज़ाम सरकार की तरफ़ से नहीं होता है। पोषाहार पर होने वाले ख़र्च की राशि भी बेहद कम थी जिसकी वजह से पोषाहार की गुणवत्ता और मात्रा, दोनों ही पहले से असन्तोषजनक और अपर्याप्त थी। मोदी सरकार ने एक तरफ तो पोषण अभियान यानी प्रधानमन्त्री पोषण शक्ति निर्माण (पीएम-पोषण) योजना की घोषणा की वहीं दूसरी तरफ़ पूरे पोषण बजट में 68.31% की कटौती कर दी। 2024-25 में इस मद में जहाँ सरकार ने 300.5 करोड़ मुहैया किया था वहीं 2025-26 में अब इसे घटाकर मात्र 95.2 करोड़ रुपये कर दिया गया है। पोषण के बजट में इस घटोत्तरी से न सिर्फ़ सीधे-सीधे दिल्ली की गरीब आबादी को मिलने वाली बची-खुची सुविधाएँ प्रभावित होंगी बल्कि "सक्षम आँगनवाड़ी" जैसी योजनाएँ भी हवा-हवाई साबित होंगी। आबादी के अनुसार देखा जाये तो आँगनवाड़ी केन्द्रों की संख्या को बढ़ाने की व नए आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं-सहायिकाओं के भर्ती की भी काफ़ी ज़रूरत थी मगर **मोदी सरकार "एक लाख करोड़" के बजट में आँगनवाड़ी को मिलने वाली राशि में कटौती करके सक्षम आँगनवाड़ी योजना, पीएम पोषण योजना को लागू करेगी और दिल्ली की जनता को एक बार फिर झूठ और जुमलों की सौगात भेंट करेगी।**

असल बात तो यह है कि भाजपा सरकार आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों के गुलामी और शोषण को बढ़ावा देकर उनके "स्वयंसेवा" का "लाभ" उठाना चाहती है। आँगनवाड़ी व आशा के तहत बेहद मामूली मानदेय में काम कर रही महिलाओं के लिए न्यूनतम मज़दूरी तक की व्यवस्था भी इस सरकार के लिए मुद्दा नहीं है।

महिला समृद्धि के शोर-शराबे के पीछे की हक़ीक़त को देखें तो यह समझते देर नहीं लगेगी कि इस बजट के जरिये महिलाओं के हकों-अधिकारों को छीनने, उसमें कटौती करने की शुरुआत यह सरकार कर चुकी है। उन्हें बेरोज़गारी के गड्ढे में ढ़केलकर, मामूली रक़म में गुलामी करवाकर महिला समृद्धि सुनिश्चित करने जैसे नायाब तरीक़े ही भाजपा सरकार के विकास मॉडल की सच्चाई है।

महिला समृद्धि योजना के तहत 2500 रुपये की घोषणा दिल्ली की महिलाओं के साथ एक घटिया मज़ाक से अधिक कुछ नहीं है। महिला समृद्धि, महिला सम्मान और महिलाओं को सशक्त करने की तमाम घोषणाओं में क्यूँ कभी दिल्ली की लाखों बेरोज़गार महिलाओं के लिए पक्के रोज़गार की बात नहीं होती? क्यूँ आँगनवाड़ी और आशाकर्मियों को न्यूनतम मज़दूरी मुहैया कराने की याद मोदी सरकार को नहीं आती? वहीं आज महिलाओं की आबादी का एक बड़ा हिस्सा फैक्ट्रियों, घरों, दफ़्तरों में 3 हज़ार से 5 हज़ार तक की बेहद मामूली मज़दूरी पर और बिना किसी सुरक्षा की गारण्टी पर काम करने को मजबूर है, इन सभी मेहनतकश महिलाओं की माँग मोदी सरकार की योजनाओं का हिस्सा क्यूँ नहीं बनती?

वह इसलिए क्योंकि मोदी सरकार महिलाओं के सस्ते श्रम को लूटने में पूँजीपतियों के लिए कोई बाधा पैदा नहीं कर सकती। आँगनवाड़ी, आशा आदि जैसी तथाकथित "सामाजिक स्कीमों" के ज़रिए बच्चों, गर्भवती महिलाओं आदि की देखरेख व पोषण तथा शुरुआती शिक्षा के ज़रिए पूँजीपति वर्ग बहुत-से वे काम बेहद सस्ते में करा लेता है, जो कि बाक़ायदा अच्छा भोजन मुहैया कराने, अच्छी स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधा मुहैया कराने में सरकार का कहीं ज़्यादा ख़र्च होता। इसके लिए उसे बाक़ायदा समस्त सुविधाओं से लैस देखरेख केन्द्र खोलने पड़ते, मैटर्निटी सेण्टर खोलने पड़ते, अच्छे स्कूल व अस्पताल खोलने पड़ते, उनमें बाक़ायदा वेतनमान पर कर्मचारी रखने पड़ते। लेकिन इस काम को सरकार स्वयं मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी की ही औरतों से कौड़ियों के दाम पर करवा लेती है और अपना ख़र्च कई गुना बचाती है। पूँजीपति वर्ग की सेवा में लगी पूँजीवादी सरकारें चाहे वह भाजपा हो या कोई अन्य चुनावबाज़ पार्टी की सरकार, श्रमशक्ति के मूल्य या उसके पुनरुत्पादन की लागत को कम रखने में अपना योगदान देती है। और यह वह कैसे करती है? जनता से ही अप्रत्यक्ष करों के रूप में पैसा वसूलो! फिर उस पैसे से आम मेहनतकश जनता के घरों की स्त्रियों को कौड़ियों के दाम आँगनवाड़ी कार्यकर्ता या सहायिका या आशा कार्यकर्ता के तौर पर रखो और गुलामों की तरह काम करवाओ! जनता से वसूले जा रहे टैक्स से ही इन "सामाजिक स्कीमों" को चलाओ, और उसमें भी ग़रीब घर के बच्चों को और औरतों को गुणवत्ता वाला भोजन, गुणवत्ता वाली शिक्षा, गुणवत्ता वाली मातृत्व देखरेख, गुणवत्ता वाले देखरेख केन्द्र, और गुणवत्ता वाली चिकित्सा देने के बजाय भुखमरी के स्तर पर रखने वाला भोजन, आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं से ही सरकारी शिक्षकों का काम लेकर कामचलाऊ शुरुआती शिक्षा और कामचलाऊ मातृत्व देखभाल मुहैया कराओ! इस तरह से तमाम पूँजीवादी सरकारें (हालाँकि भाजपा इसमें सबसे आगे है!) मेहनतकश वर्गों की स्त्रियों की ही श्रमशक्ति का दोहन करती है और मालिकों की जमात के लिए सारी योजनाएँ लागू करती है।

इसलिए, बजट में चाहे कितनी ही बढ़ोत्तरी क्यूँ न हो जाये, आम मेहनतकश जनता के जीवन में कोई वास्तविक फ़र्क नहीं पड़ने वाला है।

हालाँकि बढ़ते बजट के गुब्बारे में जनता के जीवन से जुड़े क्षेत्रों पर यानी स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन इत्यादि पर कटौती ही की गयी है।

दिल्ली के "ऐतिहासिक" बजट में शिक्षा के लिए मात्र 19,291 करोड़ रुपये दिये गए हैं, परिवहन के लिए 12,952 करोड़ रुपये और स्वास्थ्य के लिए सिर्फ़ 12,893 करोड़ रुपये आवंटित हैं। वहीं स्वास्थ्य सुविधाओं पर ख़र्च बजट का 13 फ़ीसदी भी नहीं है। शिक्षा और स्वास्थ्य बजट में इस नाममात्र की राशि के आवंटन से दिल्ली के सरकारी स्कूलों और अस्पतालों की स्थिति और बदतर होगी। इसका नतीजा भी तुरन्त सामने आ गया जब दिल्ली में बच्चों के लिए बने विशेष अस्पताल दादा देव अस्पताल के बजट को सीधे एक करोड़ से कम करके दस लाख कर दिया गया है। आप खुद सोच सकते हैं कि 10 लाख के बजट पर चलने वाले अस्पताल के हालात क्या होंगे? पहले से ही चिकित्सकों और शिक्षकों कि कमी और बुनियादी अवरचनागत सुविधाओं की कमी से जूझते सरकारी अस्पताल और स्कूल की स्थिति और खस्ताहाल होने वाली है।

मोदी सरकार के जनता से किये गए तमाम वायदे हास्यास्पद साबित हुए हैं। दिल्ली चुनाव में इस सरकार ने महिलाओं से यह भी वायदा किया था कि उन्हें होली-दिवाली पर रसोई गैस मुफ़्त उपलब्ध कराया जायेगा। स्थिति अब यह है कि हर महीने रसोई गैस पहले 50 रुपये की बढ़ी हुई कीमत पर ख़रीदो और फिर साल में एक सिलिण्डर मुफ़्त लेने का लाभ उठाओ (अगर योजना जुमला न साबित हुई!)! वहीं अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में जब पेट्रोल-डीजल की कीमत कम हुई तो भाजपा सरकार ने एक्साइज़ ड्यूटी बढ़ाकर इसे और महँगा कर दिया जिसका परिणाम यह होगा कि लोगों की ज़रूरत की सभी चीज़ों की कीमत बढ़ेगी, महँगाई बढ़ेगी और जनता की ज़ेब पर डाका डलेगा।

इसलिए, भाजपा सरकार के एक लाख करोड़ के बजट और महिलाओं के समृद्धि व सम्मान की योजना से दिल्ली के मेहनतकशों व महिलाओं की स्थिति मे सुधार आना तो दूर उल्टा महँगाई, बेरोज़गारी, ख़राब स्वास्थ्य और शिक्षा व्यवस्था का "ऐतिहासिक तोहफ़ा" मिलेगा!

एक फ़्रांसीसी कविता

जो पैदा होंगी हमारे बाद

यह मत कहो बहनो कि
तुम कुछ नहीं कर सकती
आस्था की कमी अब और नहीं
हिचक अब और नहीं
आओ, पूछें अपने आप से
क्या चाहते हैं हम?
पूर्ण मुक्ति चाहिए, नहीं चाहते कम
उड़ाने दो मखौल उन्हें,
रुक जायेगी हँसी एक दिन
वे दिन क्या दूर हैं?
क्या फ़र्क पड़ता है उससे
संघर्षों में झेलनी है दिक़्क़तें और तकलीफ़ें हमें
सुख उन बहनों के लिए होगा,
जो पैदा होंगी हमारे बाद।

– अज्ञात

हरियाणा के धारूहेड़ा में हीरो मोटोकार्प कम्पनी में इमारत गिरने से एक की मौत 5 मज़दूर घायल

औद्योगिक दुर्घटनाओं से बचाव और सुरक्षा इन्तज़ामों के लिए संघर्ष के वास्ते संगठित होना होगा

● शाम मूर्ति

28 मार्च को धारूहेड़ा (ज़िला रेवाड़ी) के मालपुरा औद्योगिक क्षेत्र में स्थित दोपहिया वाहन बनाने वाली हीरो मोटोकॉर्प कम्पनी में रात क़रीब 10:30 बजे एक एक्सटेंशन इमारत गिरने से 5 मज़दूर घायल हो गये और एक सुपरवाइजर हाकिम खान की मलबे में फँसे होने से मौत हो गयी। मौक़े पर मौजूद सूत्रों ने बताया कि इमारत गिरने से पहले कम्पनी के एक हिस्से में धमाका हुआ, फिर आग भी लगी थी। मज़दूरों ने यह भी बताया कि इमारत गिरने का कारण इमारत का पूरी तरह जर्जर होना है, जिसके बारे में कई बार कम्पनी प्रबन्धन को बोलने के बावजूद इस पर ध्यान नहीं दिया गया। घटना के बाद दमकल विभाग व राज्य आपदा प्रतिक्रिया बल (एसडीआरएफ़) देर से पहुँचा और राष्ट्रीय आपदा प्रतिक्रिया बल (एनडीआरएफ़) की गाड़ियाँ 29 मार्च शाम को पहुँची थीं। एसडीआरएफ़ व एनडीआरएफ़ की टीम फँसे हुए मज़दूर की लाश को 40 घण्टे बाद ही निकाल पायी। सभी घायल मज़दूरों को पहले ही स्थानीय प्राइवेट अस्पताल में इलाज के लिए भेजा गया था, इनमें से दो मज़दूरों को अस्पताल से छुट्टी दे दी गयी थी और दो मज़दूर गम्भीर रूप से घायल थे। ऑटोमोबाइल उद्योग अस्थायी मज़दूर यूनियन (AICWU) के साथी घटनास्थल पर मौजूद रहे और मज़दूरों के परिजनों की हर सम्भव मदद करने की कोशिश करते रहे।

कम्पनी में कार्यरत मज़दूरों ने बताया कि इमारत जर्जर हो चुकी थी और कई बार कहने के बाद भी कम्पनी ने इसपर ध्यान नहीं दिया। यह हीरो कम्पनी द्वारा सुरक्षा नियमों के उल्लंघन को साफ़ दर्शाता है। इसी के बाबत ऑटोमोबाइल उद्योग अस्थायी मज़दूर यूनियन (AICWU) द्वारा फ़ैक्ट्रियों में हो रहे सुरक्षा क़ानूनों के उल्लंघन के ख़िलाफ़ तत्काल कार्रवाई करने की माँग करते हुए डीसी कार्यालय में प्रतिनिधिमण्डल ज्ञापन दिया गया। जिसमें **ज़िला प्रशासन से निम्न माँगें की गयीं :**

1) सभी कारख़ानों में मानकों के अनुरूप सुरक्षा के पुख़्ता इन्तज़ाम सुनिश्चित किये जायें।

2) सभी कार्यस्थलों पर सुरक्षा क़ानूनों समेत सभी श्रम क़ानूनों को तत्काल सख़्ती से लागू किया जाये।

3) दोषी मालिक/प्रबन्धन व ठेकेदारों के अलावा ज़िम्मेदार लेबर इंस्पेक्टर व श्रम विभाग पर तत्काल सख़्त से सख़्त कार्रवाई की जाये।

4) हीरो मोटोकॉर्प में हुए हादसे में मृतक मज़दूर के परिवार को 1 करोड़ व घायल मज़दूरों के परिवार को 50 लाख रुपये तत्काल मुआवज़ा दिया जाये।

5) सरकार की तरफ़ से तत्काल राहत राशि पीड़ितों व उनके परिवार के सदस्यों को दी जाये।

ज्ञात हो कि इसी साल मार्च के महीने में ही रेवाड़ी ज़िले में 3 कारख़ानों में आग लगने की घटनाएँ सामने आ चुकी हैं। हीरो मोटोकॉर्प कम्पनी के अलावा 18 मार्च को धारूहेड़ा औद्योगिक क्षेत्र में कूलर बनाने वाली एमपीपीएल कम्पनी में भीषण आग लगी थी। 6 मार्च को बावल औद्योगिक क्षेत्र में पेण्ट की कम्पनी पिगमेन्ट प्राइवेट लिमिटेड में आग लगी थी। यह भी ज्ञात रहे कि पिछले वर्ष (2024 में) 16 मार्च को ही धारूहेड़ा में लाइफ़ लॉन्ग कम्पनी में आग लगने से 19 मज़दूरों की मौत हुई थी और 39 मज़दूर बुरी तरह आग से झुलस गये थे। इस घटना पर आयी एक रिपोर्ट के मुताबिक फ़ैक्ट्री में सुरक्षा मानकों की महज़ अनदेखी ही नहीं बल्कि घोर उल्लंघन पाया गया। न ही इस पर कोई सख़्त कार्रवाई की गयी। इतनी बड़ी घटना के बाद भी श्रम विभाग कान में तेल डालकर सोया रहा। अगर पहले ही श्रम विभाग द्वारा इसपर कार्रवाई की गयी होती तो आज ऐसे हादसे नहीं होते। यह बात भी ग़ौरतलब है कि धारूहेड़ा जैसे औद्योगिक इलाक़े में लाखों मज़दूर काम करते हैं और अक्सर गम्भीर दुर्घटनाएँ होती रहती हैं लेकिन धारूहेड़ा में अभी तक कोई ट्रॉमा सेण्टर व बड़ा अस्पताल नहीं है। इस दुर्घटना को महज़ लापरवाही कहना इस पर आपराधिक लीपापोती के समान है।

आइए ज़रा दुर्घटनाओं के आँकड़ों पर एक नज़र डालें

अर्थव्यवस्था में 8.5 लाख करोड़ रुपये (100 बिलियन डॉलर) की हिस्सेदारी और सकल घरेलू उत्पाद में 7% योगदान और भारत के मैन्युफ़ैक्चरिंग सेक्टर के कुल उत्पादन के एक तिहाई की हिस्सेदारी वाला भारतीय ऑटोमोबाइल क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप में लगभग एक करोड़ लोगों को रोज़गार देता है। फिर भी ऑटोमोबाइल सेक्टर में फ़िलहाल हो रहे मुनाफ़े के बावजूद ऐसे मामले धारूहेड़ा, बावल, आईएमटी मानेसर, बिलासपुर, खेड़की दौला, टपूकेड़ा समेत देश के सभी औद्योगिक क्षेत्रों में बढ़ते जा रहे हैं। महज़ एसएसआई एन.जी.ओ. की क्रश-2024 नामक रिपोर्ट से पता चलता है कि 2016 से हर साल 10,000 हज़ार मज़दूरों के दुर्घटनाग्रस्त होने की जानकारी सामने आयी है। तमिलनाडु, कर्नाटक, उत्तराखण्ड और राजस्थान जैसे अन्य ऑटो क्षेत्र केन्द्रों में भी ऐसी दुर्घटनाएँ व्यापक हैं। वास्तविक संख्या इससे कई गुना ज़्यादा है जो कहीं दर्ज भी नहीं होती है। हरियाणा में आधे से ज़्यादा दुर्घटनाएँ पॉवर प्रेस की वजह से होती हैं। अभी 2024 में भी सबसे ज़्यादा दुर्घटनाएँ पॉवर प्रेस मशीन से हो रही हैं।

पिछले 6 वर्षों में पॉवर प्रेस मशीनों की वजह से विभिन्न अंगों के कुचल जाने की घटनाओं में लगातार वृद्धि हुई है। दुर्घटना की वजहें – 1) डबल स्ट्रोक पॉवर प्रेस में ढीले और टूटे हुए पिन/कुंजी/स्प्रिंग के कारण चोट लगती है; 2) उत्पादन लक्ष्य को पूरा करने के लिए पॉवर प्रेस में सेंसर अक्सर बन्द कर दिये जाते हैं; 3) पॉवर प्रेस मशीन चलाने वाले अधिकांश श्रमिकों को उचित/पर्याप्त सुरक्षा उपकरण उपलब्ध नहीं कराये जाते हैं।

अक्सर दुर्घटनाओं के बाद पॉवर प्रेस मशीन में निरीक्षण तब होता है जब दुर्घटनाएँ हो चुकी होती हैं, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। यह भी देखा गया है कि ऑपरेटर अक्सर मशीनों की मरम्मत खुद ही करते हैं। दूसरा, पॉवर प्रेस मशीनों का रखरखाव ठीक से नहीं किया जाता। तीसरा, केवल सुरक्षा और गुणवत्ता ऑडिट के दिनों में ही स्पष्ट मानक संचालन प्रक्रिया (एसओपी-SoP) का पालन किया जाता है। चौथा, सुरक्षा पर ज़्यादातर प्रशिक्षण सत्र सिर्फ़ काग़ज़ों पर ही होते हैं। पॉवर प्रेस मशीनों पर काम करने वाले मज़दूरों के लिए दुर्घटनाओं में उँगलियों और हाथों का नुकसान हो जाना कोई नयी बात नहीं है, लेकिन फ़ैक्ट्री प्रबन्धन इसकी ज़िम्मेदारी मज़दूरों पर डालकर उन्हें ही दोषी ठहराता है। इसके अलावा लगातार ऊँची ध्वनि और अधिक गर्मी के सम्पर्क में रहने से सिरदर्द, माइग्रेन, सुनने की क्षमता में कमी और कई स्वास्थ्यगत दिक़्क़तें बढ़ जाती हैं। पैरों पर लम्बे समय तक खड़े रहने से नसों का ख़राब होना और पैरों में सूजन जैसी समस्याएँ अक्सर हो जाती हैं। लेथ मशीन पर काम करने वाले मज़दूर लगातार धूल के सम्पर्क में रहते हैं और इससे साँस फूलना, मतली और अस्थमा और फेफड़ों की समस्या जैसी अन्य समस्याएँ होती हैं। समय-समय पर स्वास्थ्य जाँच न होने से शारीरिक समस्याओं का तुरन्त पता नहीं चलता है। ऊपर से स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच समय पर नहीं हो पाती है और समुचित ढंग से इलाज भी नहीं मिल पाता। वहीं मुआवज़े की आगे की प्रक्रिया थकाऊ होने की वजह से मज़दूर पीड़ित रहते हैं। शौचालयों की ख़राब स्थिति या सुरक्षित पेयजल की कमी से जुड़े मुद्दों पर कहीं चर्चा भी नहीं की जाती है। दोपहर के भोजन/चाय के ब्रेक मज़दूरों का वाजिब हक़ है, लेकिन इसे मज़दूरों पर किया जाने वाला अहसान माना जाता है।

गौरतलब बात यह भी है कि लगभग सभी (लगभग 80%) घायल मज़दूर सप्ताह में 48 घण्टे से अधिक काम करते थे – जो क़ानूनी सीमा है – तथा लगभग 70% मज़दूर सप्ताह में 60 घण्टे से अधिक काम करते थे, उन्हें फैक्ट्री अधिनियम (1948) का उल्लंघन करते हुए क़ानूनी दरों पर ओवरटाइम का भुगतान नहीं किया जाता है।

हरियाणा और महाराष्ट्र समेत ऑटो सेक्टर के तमाम इलाकों में घायल हुए मज़दूर अधिकतर युवा प्रवासी हैं, जो कम शिक्षित हैं और जिनके पास कोई स्थायी नौकरी नहीं है। वहीं महिला मज़दूरों को समान 'ख़तरनाक मशीनों' को चलाने के लिए पुरुषों की तुलना में कम वेतन मिलता है। देश के स्तर पर ख़ुद श्रम व रोज़गार मन्त्रालय के आँकड़ों के अनुसार, साल 2017 और 2020 के बीच, भारत में पंजीकृत कारख़ानों में (महज़ दर्ज) दुर्घटनाओं के कारण हर दिन औसतन 3 लोगों की मौत हुई और 11 घायल हुए हैं। यानी हर साल औसतन 1,190 मौतों और 4,000 से ज़्यादा मज़दूरों के घायल होने के आँकड़े सामने आये हैं। इसमें मज़दूरों द्वारा की जा रही आत्महत्याएँ शामिल नहीं हैं। इसमें से 80 प्रतिशत हादसे कारख़ानों में होते हैं। हरियाणा से लेकर देशभर के कारख़ानों समेत कार्यस्थलों में सुरक्षा के दावे किये जाते हैं लेकिन सोचने की बात है कि इस तरह की घटनाएँ आख़िर क्यों बढ़ रही हैं?

वास्तव में यह नियमों व मानकों के उल्लंघन का एक आपराधिक मामला है। इस घटना पर हीरो कम्पनी प्रबन्धन पर कोई कार्रवाई न करना या महज़ हल्की धाराओं के तहत कम्पनी के प्रबन्धन को खुला छोड़ देना आने वाले दिनों में और नयी और बड़ी दुर्घटनाओं की ज़मीन तैयार करता चला जाता है। साथ ही ऐसी घटनाओं के लिए ज़िम्मेदार दोषियों को गिरफ़्तार न करना मालिक वर्ग के प्रति सरकार और राज्यसत्ता की वर्गीय पक्षधरता ही दिखाता है। लगातार सुरक्षा मानकों की अनदेखी और मज़दूरों की मौतों के बावजूद राज्य की जाँच एजेंसियों और सरकारों को क्यों कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता इसे समझना बेहद ज़रूरी है। वास्तव में ऐसे हादसे मालिकों की मुनाफ़े की अन्धी हवस का नतीज़ा है। ये हादसे दर्शाते हैं कि मालिकों के लिए मज़दूरों की जान की कोई क़ीमत नहीं है, इसलिए कारख़ानों में सुरक्षा के इन्तज़ाम नहीं होते।

गुड़गाँव ही नहीं, देशभर के कारख़ाने 'मौत के कारख़ाने' बनते जा रहे हैं? आग लगने व भयानक दुर्घटनाएँ लगातार बढ़ने का बुनियादी कारण क्या है? इसे समझे बगैर संघर्ष की दिशा को पहचाना नहीं जा सकता है।

तात्कालिक मुनाफ़े के बावजूद मौजूदा पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में दूरगामी तौर पर आपसी प्रतियोगिता के चलते औसत मुनाफ़े की दर (बीच-बीच में मुनाफ़ा बढ़ने के बावजूद) लगातार घटती है। तब हर मालिक अपने मुनाफ़े को बरक़रार रखने के लिए मज़दूरों से अत्यधिक काम करवाता है और मज़दूरों की ज़रूरत को पूरा करने वाले ख़र्च कम कर देता है। मज़दूरों की सुरक्षा पर ख़र्च उन्हें बेमतलब का ख़र्च लगता है। ऊपर से फ़ासिस्ट मोदी सरकार मालिकों को अपने यहाँ सबकुछ ठीक होने का ख़ुद सर्टिफ़िकेशन देने की इजाज़त दे रही है। इसी मुनाफ़े से पूँजीपति वर्ग नेता, मन्त्री और सरकारी एजेंसी को अपने हित के लिए इस्तेमाल कर लेता है। इसी वजह से मालिक हर रोज़ अपने मुनाफ़े की अन्धी हवस को पूरा करने के लिए मज़दूरों की जान को जोखिम में डालते हैं। नतीजतन आये दिन ऐसे अमानवीय व ख़तरनाक हादसे बढ़ते जा रहे हैं।

इस सबका ख़ामियाज़ा आज मज़दूर वर्ग को निर्मम असुरक्षित परिस्थितियों में काम करके चुकाना पड़ता है। इसका अन्त लूट, शोषण और दमन पर आधारित मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर लोगों की ज़रूरतें पूरी करने वाली समाजवादी व्यवस्था क़ायम करने पर ही होगा। लेकिन जब तक ऐसी व्यवस्था क़ायम नहीं होती तब तक क्या किया जाये? अमानवीय मौतों व दुर्घटनाओं से बचाव के लिए तत्काल क्या किया जाना चाहिए? अगर अपने आपको सुरक्षित रखना है तो हमें एकता बनानी होगी। साथ ही हर घटना में सभी मज़दूरों को न्याय मिले इसके लिए लगातार प्रशासन व सरकार पर दबाव बनाये रखना होगा।

भविष्य में भी कारख़ानों में जारी ठण्डी हत्याओं पर रोक लगाने के लिए पहले से तैयारी करनी होगी। यानी हमें अपनी प्रमुख माँगों को व्यापक मज़दूर आबादी के बीच ले जाना होगा, उन्हें जागरूक, लामबन्द और यूनियनों में संगठित करके प्रबन्धन, प्रशासन व सरकार पर लगातार दवाब बनाने के सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

भाजपा देशभर में त्योहारों का इस्तेमाल कर रही है साम्प्रदायिक नफ़रत फैलाने में

● प्रसेन

मशहूर जनकवि गोरख पाण्डेय ने 1978 में साम्प्रदायिक दंगों पर एक कविता लिखी थी – "इस बार दंगा बहुत बड़ा था/ख़ूब हुई थी ख़ून की बारिश/अगले साल अच्छी होगी/फ़सल/मतदान की"। यह उस समय की कविता है जबकि फ़ासीवादी ताक़तें अभी शासन-सत्ता की मशीनरी पर क़ाबिज़ नहीं थी। हालाँकि उस समय भी संघ परिवार द्वारा जनता के बीच साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का ज़हर नित-निरन्तर भरा जा रहा था। लेकिन आज सत्ता पर क़ाबिज़ होने और प्रशासन मशीनरी में अपने आन्तरिक पैठ के ज़रिये फ़ासीवादी ताक़तें साम्प्रदायिक माहौल की निरन्तरता और उसे उन्मादपूर्ण बनाने के लिए जिस तरह से त्योहारों को उपकरण की तरह इस्तेमाल कर रही है, वह अभूतपूर्व है।

कुम्भ, होली, रामनवमी, ईद, नवरात्रि आदि अवसरों और त्योहारों को देश की जनता अपनी-अपनी आस्था के मुताबिक़ मनाती रही है। इन त्योहारों में हिन्दू और मुसलमानों के बीच खाने-पीने का लेन-देन और मेल-मिलाप होता रहा है। लेकिन भाजपा और संघ परिवार पिछले कुछ सालों से इन त्योहारों को हिन्दू-मुस्लिम आबादी के बीच साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के उपकरण में बदलने की साज़िश में लगे हुए हैं।

अगर केवल इस साल कुम्भ, होली, रामनवमी और ईद जैसे अवसरों और त्योहारों पर होने वाली घटनाओं को देखा जाये तो बात स्पष्ट हो जायेगी। सबसे पहले महाकुम्भ को लें। मोदी और योगी सरकार ने इस अवसर को फ़ासीवादी प्रचार के 'दिव्य और भव्य' कार्यक्रम में तब्दील कर दिया। अल्पसंख्यक आबादी के विरुद्ध उनके कुम्भ में आने को लेकर तरह-तरह की चेतावनियाँ और धमकियों के ज़रिये साम्प्रदायिक उन्माद का माहौल बनाया गया। प्रयागराज के सभी तेरह अखाड़ों ने योगी से माँग की कि मुसलमानों और मुसलमान कारोबारियों को मेला क्षेत्र में न आने दिया जाये नहीं तो सनातन संस्कृति और परम्परा दूषित हो जायेगी। इस पर योगी का बयान था कि कलुषित मानसिकता और विचारधारा वाले मेला क्षेत्र में न आयें, तभी अच्छा होगा। योगी ने कहा कि बहुत साल पहले बहुत से लोगों ने इस्लाम अपना लिया था, उनकी कुछ पीढ़ियाँ आज भी सनातन में विश्वास रखती हैं। स्पष्ट है कि यह चेतावनी किसके लिए थी!

इसी तरह 31 दिसम्बर को नासिर नामक आईडी से कुम्भ में बम धमाका करने की धमकी को 'हिन्दुओं' के ख़िलाफ़ जिहाद के रूप में पेश किया गया। बाद में पता चला कि यह आयुष नाम के व्यक्ति की आईडी थी जो आरएसएस से जुड़ा हुआ है। इसी तरह जूना अखाड़ा: 'विश्वासघात से उबरना', 'सनातन धर्म की आरक्षित सेना....जिसने मुगलों को चौंका दिया' नामक थीम से मुगलों के ख़िलाफ़ युद्धों में इनकी भागीदारी के बारे में बताकर मेला क्षेत्र में प्रचारित किया गया।

होली को भी साम्प्रदायिक रंग देने की पूरी कोशिश की गयी। सम्भल में एक पीस कमेटी की बैठक के दौरान (इस बार होली और अलविदा की नमाज़ एक ही दिन थी) मुस्लिम पक्ष की माँग थी कि होली के दौरान शासन-प्रशासन इस तरह की व्यवस्था करे कि दोनों पक्षों यानी हिन्दू-मुस्लिम में कोई तनाव की परिस्थिति न आये। इसी पीस कमेटी की बैठक में सीओ अनुज चौधरी ने कहा कि होली साल में एक बार आती है और जुमे की नमाज़ 52 बार। जिसको रंग खेलना हो और जिसकी हिम्मत रंग लगवाने की हो वही बाहर निकले अन्यथा घर के अन्दर ही रहें और घर पर ही नमाज़ पढ़ें। उनके इस बयान पर मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ ने कहा कि अनुज चौधरी एक पहलवान हैं और एक पहलवान की भाषा में ही उन्होंने समझाया है। इसी तरह अलीगढ़ में भी ऐसे ही प्रयास हिन्दूवादी संगठनों द्वारा किये गये। यहाँ भाजपा सांसद सतीश गौतम ने इसमें बढ़-चढ़कर भूमिका निभायी। दरअसल अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में इस बार हिन्दू छात्रों ने कॉलेज के एक हॉल में होली मनाने की अनुमति माँगी। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पहले भी होली मनायी जाती थी। जो छात्र अपने घर नहीं जाते थे वे हॉस्टल आदि में होली मनाते थे। विश्वविद्यालय प्रशासन इस पर विचार कर रहा था लेकिन इसी बीच भाजपा सांसद और करणी सेना ने इस मामले को साम्प्रदायिक रंग देना शुरू कर दिया। भाजपा सांसद सतीश गौतम ने तो होली खेलने से रोकने वालों को ऊपर पहुँचाने की धमकी तक दे डाली। हालाँकि विश्वविद्यालय ने होली खेलने के लिए एक हॉल दे दिया लेकिन तब तक गोदी मीडिया द्वारा लोगों में यह साम्प्रदायिक प्रचार खूब भरा गया कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय होली खेलने देने के ख़िलाफ़ है। सम्भल, शाहजहाँपुर, बरेली और अलीगढ़ जैसे जिलों में तो क़रीब 200 मस्जिदों को होली की पूर्व संध्या पर तिरपाल से ढक दिया गया था। ज़ाहिरा तौर पर यह पूरी स्थिति हिन्दू-मुस्लिम के बीच के अलगाव को बढ़ाने वाली ही थी।

इसी तरह ईद के अवसर का भी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण बढ़ाने में इस्तेमाल किया गया। उत्तर प्रदेश की भाजपा सरकार ने ईद के अवसर पर सड़कों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर और अपने घरों की छतों पर नमाज पढ़ने के लिए इकट्ठा होने पर रोक लगा दी। हरियाणा में भाजपा सरकार ने ईद को राजपत्रित अवकाश की सूची से हटाकर प्रतिबन्धित अवकाश की श्रेणी में डाल दिया।

रामनवमी के अवसर का तो भाजपा पिछले कई सालों से साम्प्रदायिक उन्माद बढ़ाने के लिए व्यापक इस्तेमाल कर रही है। स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि इस आयोजन में बड़े-बड़े सैकड़ों जुलूस देशभर में निकाले जाते हैं जो तलवारों, बन्दूकों और त्रिशूलों से लैस होकर, मुस्लिम इलाक़ों और मस्जिदों के सामने से मार्च करते हैं। कई बार प्रशासन द्वारा तय किये गए रूट को जानबूझकर तोड़कर मुस्लिम इलाक़ों से जुलूस निकाला जाता है। जुलूस में मुस्लिम इलाक़ा आते ही जानबूझकर मुस्लिमों के ख़िलाफ़ नफ़रत भरे नारे लगाये जाते हैं और मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंसा के आह्वान वाले धार्मिक गाने बजाये जाते हैं।

अभी हाल ही में 'सेण्टर फ़ॉर स्टडी ऑफ़ सोसाइटी एण्ड सेक्युलरिज़्म' के कार्यकर्ता-शोधकर्ता इरफ़ान इंजीनियर और नेहा दाभाड़े की पुस्तक 'वेपनाइज़ेशन ऑफ़ हिन्दू फेस्टिवल्स' आयी है। यह पुस्तक हिन्दू त्योहारों, विशेष रूप से रामनवमी के इर्द-गिर्द होने वाली हिंसा के मद्देनज़र केन्द्रित है। यह पुस्तक तथ्यों से दिखाती है कि किस तरह त्योहारों के उत्सव को मुस्लिम समुदाय के लिए डराने वाला और आक्रामक बना दिया गया है, जिसके कारण ज़्यादातर हिंसा और ध्रुवीकरण होता है।

यह पुस्तक वर्ष 2022-2023 में विशेष रूप से रामनवमी के त्यौहारों के उत्सव के हिस्से के रूप में धार्मिक जुलूसों द्वारा भड़काई गयी हिंसा की गहन जाँच पर आधारित है। पुस्तक में शामिल हिंसा हावड़ा और हुगली (2023), सम्भाजी नगर (2023), वडोदरा (2023), बिहारशरीफ़ और सासाराम (2023), खरगोन (2022), हिम्मत नगर और खम्बात (2022) और लोहरदगा (2022) से सम्बन्धित है।

इस पुस्तक की भूमिका में इरफ़ान इंजीनियर बताते हैं, "यहाँ तक कि कथित हिन्दू राष्ट्रवादियों का एक छोटा समूह 'धार्मिक जुलूस' के रूप में अल्पसंख्यक आबादी वाले इलाक़ों से गुज़रने पर ज़ोर दे सकता है और राजनीतिक तथा अपमानजनक नारे लगाकर, हिंसक गीत और संगीत बजाकर कुछ युवाओं को उकसा सकता है और उम्मीद करता है कि प्रतिक्रिया में उन पर पत्थर फेंके जायें। इसके बाद राज्य अल्पसंख्यक समुदाय के बड़ी संख्या में सदस्यों को गिरफ़्तार करके और बिना किसी न्यायिक प्रक्रिया के कुछ दिनों के भीतर उनके घरों और सम्पत्तियों को ध्वस्त करके बाकी काम कर देगा।" मध्य प्रदेश सरकार के एक मन्त्री ने तो यहाँ तक कहा कि जुलूस पर पत्थर फेंके गए, जो मुस्लिम परिवारों से आए थे, इसलिए इन परिवारों को पत्थरों में बदल दिया जाना चाहिए।

रामनवमी के अवसर पर इस बार महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, दिल्ली, कर्नाटक, बिहार, गुजरात राज्यों से इस तरह की कई घटनाएँ हुईं। महाराष्ट्र के सम्भाजीनगर, पश्चिम बंगाल के डलखोला और कर्नाटक के हासन में साम्प्रदायिक टकराव में लोगों की जानें तक गयीं।

रामनवमी समेत तमाम हिन्दू त्योहारों पर संघ परिवार व उसके विभिन्न आनुषंगिक संगठनों की अगुवाई में, प्रशासन की मूक या प्रत्यक्ष सहमति से चलती गाड़ियों या रास्ते में विभिन्न जगह डीजे के ज़रिए बहुत भोंडे और भद्दे मुस्लिम विरोधी गीत बजाये जाते हैं। जानबूझकर मस्जिदों के सामने या मुस्लिम इलाक़ों को टारगेट किया जाता है। मुस्लिमों को उकसाया जाता है कि वो कुछ करें ताकि तोड़-फोड़, आगजनी की स्थिति पैदा की जा सके और पूरे माहौल को साम्प्रदायिक बनाया जा सके। इस बीच जो हिन्दू-पॉप गाने त्योहारों पर रास्ते में या जुलूस में बजाये जा रहे हैं उनमें कुछ गीतों के बोल इस तरह हैं-'बुलडोज़र में दबकर मर गए जो आस्तीन के साँप रहे हैं, बुलडोज़र बाबा चाँप रहे हैं', 'पाकिस्तान में भेजो या क़त्लेआम कर डालो, आस्तीन के साँपों को न दुग्ध पिलाकर पालो', 'टोपी वाला भी सर झुकाकर जै श्री राम बोलेगा', 'सुन लो मुल्लो पाकिस्तानी, गुस्से में हैं बाबा बर्फानी', 'जो छुएगा हिन्दुओं की बस्ती को, मिटा डालेंगे उसकी बस्ती को' आदि। इस बार रामनवमी के मौक़े पर बंगाल और बिहार के भागलपुर, औरंगाबाद, समस्तीपुर और मुंगेर इलाकों में हुए झड़पों में इस तरह के गानों की एक महती भूमिका रही है। इन मौकों पर इकट्ठी भीड़ का फ़ायदा उठाकर मुस्लिम दुकानों, घरों या मस्जिदों पर जबरिया भगवा झण्डा आदि लगाने से भी उकसाने की कोशिश होती है। जब झड़प होती है तो तुरन्त मीडिया और प्रशासन हिन्दुओं के पक्ष में आ जाता है। मीडिया द्वारा व्यापक आबादी में एकतरफ़ा शोर मचाया जाता है कि हिन्दुओं के जुलूस पर मुस्लिमों ने पत्थर फेंके आदि आदि। उसके बाद फ़र्ज़ी मुक़दमों, बुलडोज़र से घर गिराने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

कुणाल पुरोहित द्वारा लिखी पुस्तक 'एच-पॉप' में इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस तरह हिन्दू-पॉप गानों द्वारा मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलायी जा रही है। यह पुस्तक दिखाती है कि किस तरह हिन्दुत्ववादी पॉप सितारे विशेष रूप से उत्तर भारतीय परिदृश्य में तीव्र नफ़रत फैला रहे हैं। हज़ारों गाने देशभर के कलाकारों और छोटे-मोटे स्टूडियो द्वारा लगातार बनाये जाते हैं। इन गानों के ज़रिये विभिन्न सामयिक और ऐतिहासिक मुद्दों पर हिन्दुत्ववादी कट्टर रुख़ को सरल शब्दों, और उन्मादी बीट्स के ज़रिए लोगों में लोकप्रिय बना दिया जाता है। हर चीज़ के लिए एक गाना है : श्रोताओं को 'हिन्दू राष्ट्र' के लिए लड़ने के लिए प्रेरित करना – हिन्दुओं के लिए एक राष्ट्र; आतंकवादी हमलों के बाद नग्न राष्ट्रवाद और ज़ेनोफ़ोबिया को भड़काकर मोदी सरकार का बचाव और प्रशंसा करने के लिए गाने; साथ ही कश्मीर की संवैधानिक स्वायत्तता को रातों-रात छीनने और हज़ारों लोगों को नज़रबन्द करने जैसे विवादास्पद कार्यों की प्रशंसा करने वाले गाने भी हैं। हिन्दुओं के ख़िलाफ़ एक "गुप्त इस्लामी जनसांख्यिकीय षड्यन्त्र" के विरुद्ध गाने हैं, 'लव जिहाद' के ख़िलाफ़ चेतावनी देने वाले गाने हैं। ऐसे गाने हैं जो मस्जिदों की जगह मन्दिर बनाने का आह्वान करते हैं, ऐसे गाने हैं जो पाकिस्तान को मिटा देने का आह्वान करते हैं, ऐसे गाने हैं जो मुसलमानों को निशाना बनाते हैं और उनके ख़िलाफ़ हिंसा की धमकी देते हैं, ऐसे गाने हैं जो हिन्दुओं को 'जागने' का आह्वान करते हैं, उन्हें अपने धर्म पर गर्व करने के लिए कहते हैं।

इसी तरह नवरात्रि पर दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश आदि जगहों पर विश्व हिन्दू परिषद और संघ के अन्य आनुषंगिक संगठनों द्वारा मुस्लिमों की मीट की दुकानें बन्द करवायी गईं। कई जगहों पर लगने वाले मेलों या बाज़ार में अवैध तरीक़े से लोगों का आधार कार्ड चेक किया गया। मुस्लिम होने पर उसकी दुकान हटवा दी गयी या बन्द करवा दी गयी।

इन सारे तथ्यों और घटनाओं से आसानी से समझा जा सकता है कि फ़ासीवादी ताक़तें किस तरह से त्योहारों का साम्प्रदायिक उन्माद की निरन्तरता बनाये रखने के लिए उपकरण के तौर पर इस्तेमाल कर रही हैं।

इसका कारण बहुत साफ़ है। फ़ासीवादी ताक़तें जब सत्ता में नहीं होती हैं तो अपने हिंस्र साम्प्रदायिक

(पेज 2 पर जारी)

भारतीय न्यायपालिका का जर्जर होता चरित्र

● अपूर्व मालवीय

पिछले कुछ सालों के दौरान भारतीय न्यायपालिका के अलग-अलग हिस्सों से विवादित बयान और फ़ैसले लगातार आते रहे हैं। इन विवादित बयानों और फ़ैसलों का चरित्र मोदी के सत्ता में आने के बाद से बहुत बदला है। इन बयानों में जजों द्वारा सार्वजनिक मंचों से घोर साम्प्रदायिक बयान देने से लेकर, स्त्री-विरोधी पितृसत्तात्मक मूल्यों को स्थापित करने वाले फ़ैसले देना, दंगाइयों-बलात्कारियों को रिहा करना तक शामिल है! वहीं दूसरी तरफ़ इन दस-ग्यारह सालों में सामाजिक-राजनीतिक और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को बिना किसी सबूत के वर्षों तक जेल में बन्द रखने का भी कीर्तिमान भारतीय न्यायपालिका द्वारा बनाया गया है।

वैसे तो मोदी के सत्ता में आने से पहले भी जजों द्वारा विवादित बयान और फ़ैसले आते रहे हैं लेकिन उन बयानों और फ़ैसलों का चरित्र साम्प्रदायिक हिन्दुत्ववादी किस्म का शायद ही रहा हो! दूसरे ऐसे बयानों और फ़ैसलों की बारम्बारता इन दस-ग्यारह वर्षों में जैसी बढ़ी है वैसे उसके पहले कभी नहीं थी।

इलाहाबाद हाईकोर्ट के जस्टिस शेखर यादव विश्व हिन्दू परिषद की लीगल सेल के कार्यक्रम में खुले मंच से यह कहते हैं, "मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि यह भारत है और यह देश यहाँ रहने वाले बहुसंख्यकों की इच्छा से चलेगा।" राजस्थान हाईकोर्ट के जज महेश चन्द्र शर्मा ने अपने एक फ़ैसले में गाय को 'राष्ट्रीय पशु' घोषित करने और गो-हत्या के लिए आजीवन कारावास का प्रावधान करने की सिफ़ारिश की! इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज संजय कुमार ने रेप पीड़िता को ही "खुद मुसीबत मोल लेने का ज़िम्मेदार" ठहराते हुए बलात्कारी को ज़मानत दे दी! कर्नाटक हाईकोर्ट के जस्टिस वेदव्यासाचार्य श्रीशानंद एक वीडियो में बेंगलुरु की एक मुस्लिम बहुल इलाके को "पाकिस्तान" कहते नज़र आए! जस्टिस राम मनोहर नारायण मिश्र ने एक फ़ैसले में बच्ची के निजी अंग को पकड़ना और उसके पायजामे के नाडे को तोड़ने को दुष्कर्म की कोशिश न मानते हुए आरोपी को दुष्कर्म के प्रयास की धारा से मुक्त कर दिया! इसी तरह का एक फ़ैसला महाराष्ट्र की एक महिला जज द्वारा आया था कि "जब तक त्वचा का त्वचा से स्पर्श न हो तब तक उसे दुष्कर्म नहीं कहा जा सकता है!" पुणे के जज ने केस की सुनवाई के दौरान एक महिला को सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं देख सकता हूँ कि आपने मंगलसूत्र और बिन्दी नहीं पहनी है। अगर आप एक विवाहित महिला की तरह व्यवहार नहीं करती हैं, तो आपका पति आपमें कोई दिलचस्पी क्यों दिखायेगा?" इसी तरह मद्रास और गुवाहाटी उच्च न्यायालयों के कुछ फ़ैसलों में उन पुरुषों को तलाक़ लेने का वाज़िब कारण बताया है जिनकी पत्नियों ने मंगलसूत्र और सिन्दूर जैसे पारम्परिक विवाह के प्रतीक पहनने से इनकार कर दिया था!" ये कुछ चन्द उदाहरण हैं जो भारतीय न्यायपालिका के फ़ैसलों और बयानों के घोर साम्प्रदायिक और स्त्री-विरोधी पितृसत्तात्मक मूल्यों को पुष्ट करते हैं।

दूसरी तरफ़ तमाम बेगुनाह बुद्धिजीवियों, राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं को बिना किसी सबूत के वर्षों तक जेल में रखा गया है। उमर खालिद, गुलफ़िशा फ़ातिमा, शरजील इमाम, आनन्द तेलतुंबडे, फॉदर स्टैन स्वामी के बरक्स राम रहीम, येति नरसिंहानंद, प्रज्ञा ठाकुर, कुलदीप सिंह सेंगर जैसे बलात्कारी-अपराधी बेख़ौफ़ अपराधों को अंजाम दे रहे हैं! सबूत होने के बावजूद बिना किसी सज़ा के या ज़मानत पर खुले आम घूम रहे हैं! जी एन साईंबाबा और फॉदर स्टैन स्वामी के मामले में न्यायपालिका ने अपना बेहद क्रूर चेहरा दिखाया है। अल्जाइमर से पीड़ित 85 वर्ष के स्टैन स्वामी को बीमारी में बेहद बुनियादी सुविधाओं तक से वंचित रखा गया। साईंबाबा को बॉम्बे हाईकोर्ट के दो जजों द्वारा सभी आरोपों से बरी किये जाने के बाद जस्टिस एम आर शाह ने रातोंरात सुनवाई करके उन्हें वापस जेल भिजवा दिया! धारा 370 हटने से लेकर तमाम सबूतों को दरकिनार करते हुए राम जन्मभूमि मुद्दे पर सुप्रीम कोर्ट के सभी जजों द्वारा एकराय से लिए गये **फ़ैसले ये बताते हैं कि भारतीय न्यायपालिका का चरित्र किस हद तक फ़ासीवादी राज्यसत्ता के वैचारिक-राजनीतिक प्रोजेक्ट के अनुसार ढलता जा रहा है।**

न्यायपालिका के चरित्र में आये बदलाव को भारतीय राज्यसत्ता के चरित्र में आये बदलाव से समझा जा सकता है। किसी भी पूँजीवादी व्यवस्था में क़ानून और न्यायालय कुल मिलाकर पूँजीपति वर्ग और व्यवस्था के हितों के अनुरूप ही काम करते हैं। न्यायपालिका व्यवस्था के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए पूँजीपतियों के आपसी विवाद निपटाती है और कई बार समूचे पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के व्यापक व दूरगामी हितों को देखते हुए किसी एक या कुछ पूँजीपति घरानों को नियन्त्रित करने का भी काम करती है। कई बार ऐसा भी होता है कि व्यापक जन-असन्तोष से सत्ता को बचाने के लिए न्यायपालिका कुछ श्रम अधिकारों एवं जनवादी अधिकारों के पक्ष में भी फैसले देती है। लेकिन श्रम और पूँजी के हर विवाद में, शासक वर्ग और आम जनता के बीच के हर विवाद में उसकी भूमिका मूलतः एक ऐसे "पंच" की होती है जिसकी पक्षधरता हर हमेशा पूँजी के पक्ष में, यानी सत्ताधारी वर्ग और उसकी व्यवस्था के पक्ष में होती है।

किसी भी देश में पूँजीवादी संकट के गहराने के साथ ही जैसे-जैसे पूँजीवादी जनवाद का स्पेस सिकुड़ता चला जाता है, वैसे-वैसे न्यायपालिका की "निष्पक्षता" का नकाब उतरता चला जाता है। बुर्जुआ राज्यसत्ता जब किसी तरह की बोनापार्टिस्ट किस्म की निरंकुश सत्ता, सैनिक तानाशाही या फ़ासीवादी सत्ता का स्वरूप ग्रहण कर लेती है तो न्यायपालिका सीधे-सीधे सरकारों के निर्देशों पर चलती हुई अपनी सापेक्षिक स्वायत्तता को खो देती है और उसका यह चरित्र जनता की नज़रों में भी काफ़ी हद तक साफ़ हो जाता है। लेकिन इस मामले में फ़ासीवादी सत्ता का व्यवहार बुर्जुआ शासन के अन्य किसी भी आपवादिक निरंकुश रूप से भिन्न होता है। फ़ासीवादी शक्तियाँ अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से न्यायपालिका के फ़ासीवादीकरण के काम को नीचे से ऊपर तक अंजाम देती हैं और बार एवं बेंच में अपने कुशल सिपहसालारों को घुसाने का काम करती हैं। भारतीय न्यायपालिका में फ़ासीवादी घुसपैठ की बात तो आज तमाम अधिवक्ताओं, विधिवक्ताओं से लेकर सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट के कई रिटायर्ड जज तक कर रहे हैं।

यूँ तो 1990 के दशक से ही भाजपा शासित राज्यों की निचली अदालतों और उच्च न्यायलयों में हिन्दुत्ववादी विचारों को खुलेआम प्रकट करने वाले और संघी फ़ासीवादियों के पक्ष में फैसले देने वाले घुर-दक्षिणपन्थी न्यायाधीशों के उदाहरण मिलते रहे हैं लेकिन विशेषकर 2014 के बाद से उच्चतम न्यायालय तक के फैसलों और जजों के आचरण से न्यायपालिका की "निष्पक्षता" का मिथक पूरीतरह से ध्वस्त हो गया है और आज जिस न्यायपालिका को हम देख रहे हैं, उसे अगर हिन्दुत्ववादी न्यायपालिका कहा जाये तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इलाहाबाद के करछना में जातिवादी गुण्डों का नंगा नाच, ज़िम्मेदार कौन?

● अविनाश

फ़ासीवादी भाजपा का शासन दलितों, स्त्रियों, अल्पसंख्यकों और आम मेहनतकश आबादी के लिए किसी नरक से कम नहीं है। निश्चित तौर पर, इसमें सबसे बुरी हालत आज मुसलमान आबादी की है क्योंकि संघी फ़ासीवादियों ने पूँजीवादी व्यवस्था के सारे कुकर्मों और देश की सारी समस्याओं के लिए इसी आबादी को बाकी आबादी के सामने एक नक़ली दुश्मन के तौर पर पेश करने के लिए चुना है, ताकि पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे से बाहर किया जा सके। लेकिन दलित मेहनतकश आबादी की स्थिति भी पहले से कहीं ज़्यादा भयंकर होती जा रही है, जो फ़ासीवादी शासन के जातिवादी श्रेष्ठतावादी और कट्टरपन्थी चरित्र को दिखलाती है।

हालिया दलित विरोधी घटनाओं ने यह साबित कर दिया है कि उत्तर प्रदेश ना केवल हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की प्रयोगशाला बनता जा रहा है बल्कि दलित उत्पीड़न और फ़ासीवाद पोषित ब्राह्मणवादी ताकतों के गुण्डागर्दी का नया केन्द्र भी बनता जा रहा है। इलाहाबाद शहर से सटे करछना इलाके में जातिवादी गुण्डों ने मानवता को शर्मसार करने वाले कुकृत्य को अंजाम दिया है। करछना थाना क्षेत्र के इटौरा गाँव में रहने वाले 35 वर्षीय दलित मज़दूर युवक देवीशंकर को जातिवादी गुण्डों ने गेहूँ के बोझ के साथ केवल इसलिए ज़िन्दा जलाकर मार डाला क्योंकि इस युवक ने गेहूँ का बोझ ढोने से मना कर दिया था। परिजनों का आरोप है कि दिलीप सिंह और उसके कुछ दोस्तों ने शंकर को गेहूँ की ढुलाई का काम दिलाने के बहाने बुलाया जहाँ शंकर द्वारा काम करने से मना करने पर गुण्डों ने उसे जलाकर मार डाला। यह निर्मम घटना उत्तर प्रदेश की डबल इंजन सरकार में जंगलराज और ब्राह्मणवादी गुण्डागर्दी का जीता जागता सबूत है। इलाहाबाद वही शहर है जहाँ कुछ दिनों पहले लगे कुम्भ में योगी-मोदी समेत तमाम भाजपाई और संघी "विश्वबन्धुत्व", "वसुधैव कुटुम्बकम", "प्रयागराज की दैवीयता", "संगम की अलौकिकता" और "हिन्दू एकता" का राग अलापते नहीं थक रहे थे। लेकिन "कुम्भ नगरी" की इसी "अलौकिकता" के बीच फलते-फूलते ब्राह्मणवादियों-मनुवादियों की घृणित जातिवादी मानसिकता की कुरूपताओं का नंगा प्रदर्शन भी अक्सर देखने को मिल जाता है।

प्रदेश की योगी सरकार, भोंपू मीडिया और अपने तमाम अन्य माध्यमों से दम्भ भर रही है कि प्रदेश को अपराधमुक्त बनाया जा चुका है। लेकिन ज़मीनी हक़ीक़त इसके बिल्कुल उलट है। उत्तर प्रदेश में गुण्डागर्दी और अपराध की घटनाएँ तेज़ी से बढ़ रहीं हैं। आम दलित आबादी, स्त्रियाँ, अल्पसंख्यक खौफ़ के साये में जीने के लिए मज़बूर हैं और अपराधी बेख़ौफ़ घूम रहे हैं। देश में दलित विरोधी, जातिगत नफ़रत व हिंसा का लम्बा इतिहास रहा है। 1989 में एससी/एसटी एक्ट के लागू होने के 35 साल बाद भी आज स्थिति यह है कि हर घण्टे दलितों के ख़िलाफ़ पाँच से ज़्यादा हमले दर्ज होते हैं; हर दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है। दलित महिलाओं की स्थिति और भी भयावह है। प्रतिदिन औसतन 6 दलित स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार होती हैं। इसमें भी देश भर में होने वाली कुल दलित विरोधी घटनाओं में से 81 फ़ीसदी घटनाएँ देश के उन छः राज्यों में घटित हो रही है जहाँ भाजपा की सरकार है या भाजपा गठबन्धन में है।

भाजपा और संघ न केवल सवर्णवादी, जातिवादी, ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रसित है बल्कि इसके पोषक भी है। धीरेन्द्र शास्त्री जैसे संघी जातिवादी फ़ासिस्टों गुण्डों के प्रवचन में भाजपा के नेताओं का जाना, मोदी द्वारा धीरेन्द्र शास्त्री को अपना छोटा भाई बताना इसके कुछ उदहारण हैं। उत्तर प्रदेश की योगी सरकार ने कुलदीप सिंह सेंगर जैसे अपराधियों को बचाने के लिए पूरा ज़ोर लगा दिया। हाथरस में बलात्कार की शिकार दलित लड़की की लाश बग़ैर पोस्टमार्टम के पुलिस प्रशासन द्वारा जला देना उत्तर प्रदेश प्रशासन की मानसिकता को दर्शाने के लिए काफ़ी है। ऐसे में सहज ही समझा जा सकता है कि इस क़िस्म की मानसिकता के लोग जब शासन-प्रशासन में बैठे हों तो दलित उत्पीड़न का बढ़ना लाज़मी है। इन वजहों से ब्राह्मणवादी/सवर्णवादी मानसिकता के लोगों में क़ानून का जो थोड़ा बहुत भय था वह भी ख़त्म हो गया है। जिसकी वजह से ऐसी घटनाएँ आज आम हो गयी हैं।

ऐसी घटनाओं पर संगठित होकर क़ानूनी कार्रवाई की माँग तो उठानी ही चाहिए साथ ही यह भी समझना ज़रूरी है कि केवल क़ानूनी कार्रवाई ऐसी घटनाओं की पुनरावृति को नहीं रोक सकती। इसके लिए ज़रूरी है कि पूरे देश स्तर पर जाति विरोधी आन्दोलन संगठित किया जाय और जाति व्यवस्था को बनाये रखने वाली पूँजीवादी व्यवस्था को ही चकनाचूर कर दिया जाये।

जोतिबा फुले की क्रान्तिकारी विरासत को जानो!

● अंजलि

जाति विरोधी और स्त्री मुक्ति संघर्ष पर कोई भी विमर्श जोतिबा फुले के बिना सम्भव नहीं है। फुले ने अपना पूरा जीवन समाज में प्रचलित रुढ़ियों, पाखण्डों की धज्जियाँ उड़ाते हुए तर्क और विज्ञान के प्रचार-प्रसार में खपा दिया। जोतिबा ने सदियों से चली आ रही असमानता, जातिगत भेदभाव, स्त्रियों की ग़ुलामी को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेने की बजाय इसके ख़िलाफ़ संघर्ष का रास्ता चुना। फुले ने अपने लेखन तथा संघर्ष से एक ऐसी मशाल जलायी जो आज भी हमारी राहों को रोशन कर रही है।

अस्मितावादी और संशोधनवादी राजनीति के पैरोकारों द्वारा जोतिबा की विरासत को दलित मुक्ति की अस्मितावादी निम्नबुर्जुआ राजनीतिक धारा पर अपचयित करने की कोशिश होती रही है। आज कल डॉ. अम्बेडकर की दलित मुक्ति की व्यवहारवादी, सुधारवादी बुर्जुआ धारा के साथ फुले की विरासत को जोड़ने का एक नया ट्रेण्ड चलन में है जो न केवल जोतिबा फुले की विरासत के साथ अन्याय है बल्कि यह डॉ. अम्बेडकर की राजनीतिक विरासत को भी न समझने का परिणाम है। फुले की विरासत सत्ताधारियों से याचिका और शोषणकारी क़ानूनी दायरे में समझौते की व्यवहारवादी विरासत नहीं है बल्कि सामाजिक बदलाव के लिए जनता के जुझारू संघर्ष की विरासत है। सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के लिए जोतिबा फुले सरकार की बाट नहीं देखते थे। उन्होंने उपलब्ध साधनों से ही अपना संघर्ष शुरू किया। अपने शुरूआती दिनों में वे अंग्रेजी राज के समर्थक रहे थे लेकिन बाद में उन्होंने अंग्रेजी राज की क्रूर सच्चाई को पहचानना और उसकी आलोचना करना शुरू कर दिया था। फुले 'किसान का कोड़ा' नामक अपनी रचना में लिखते हैं कि "अगर अंग्रेज अफ़सरशाही और ब्राह्मण सामन्तशाही की चमड़ी खुरच कर देखा जाय तो नीचे एक ही खून मिलेगा- यानी दोनों में कोई अन्तर नहीं है।"

जोतिबा फुले एक ऐसे समय में पैदा हुए जब हमारा देश उपनिवेशवादी और सामन्ती शोषण के जुए तले पिस रहा था। उस समय दलित व स्त्री उत्पीड़न चरमोत्कर्ष पर था। ऐसे दौर में जोतिबा फुले का पूरा जीवन जाति-उन्मूलन और स्त्रियों की शिक्षा व मुक्ति के लिए समर्पित रहा। आज हम एक फ़ासीवादी दौर में जी रहे हैं जब प्रतिक्रियावादी ताकतें पूरे समाज में हावी हैं तथा तर्क और विज्ञान की हत्या करके पाखण्ड और कूपमण्डूकताओं को स्थापित कर रही हैं। स्त्रियों और दलितों के उत्पीड़न की घटनाएँ लगातार बढ़ रही हैं। शिक्षा कुछ मुट्ठी-भर लोगों की बपौती बनती जा रही है तब जोतिबा फुले की विरासत को याद करना बहुत ज़रूरी हो जाता है

फुले का जन्म 11 अप्रैल 1827 को पुणे के भिड़ेवाडा में एक ऐसे कठिन दौर में हुआ था जब शिक्षा के सामने जाति की दीवार खड़ी थी और महिलाओं के लिए शिक्षा हासिल करना प्रतिबन्धित था। समाज में धार्मिक कूपमण्डूकता व पाखण्ड का बोलबाला था। उस दौर में ब्राह्मणवादी ताकतों से संघर्षरत लोगों में अंग्रेजी सत्ता के प्रति आम तौर पर नरम रुख था जिसका स्पष्ट प्रभाव जोतिबा पर भी था। उनकी शिक्षा एक ईसाई मिशनरी स्कूल में हुई थी जहाँ से उन्होंने फ़्रांसीसी क्रान्ति, पुनर्जागरण, प्रबोधन के बारे में जाना और मानवतावाद, सेक्युलर विचारों, जनवाद और समानता के विचारों के बारे में जाना। अंग्रेज़ों को वह शुरू में इन विचारों और आदर्शों का वाहक मानते थे और उन्हें यह उम्मीद थी कि अंग्रेज़ी सत्ता भारत में दबे-कुचले लोगों को बराबरी देगी, विज्ञान और तर्क की शिक्षा देगी, स्त्रियों को बराबरी देगी। लेकिन अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उनकी ये उम्मीदें खण्डित हो चुकी थीं और वे अंग्रेज़ी शासन की विविध प्रश्नों पर आलोचना कर रहे थे। जो बात सबसे महत्वपूर्ण है और जोतिबा फुले को अन्य समाज सुधारकों से अलग भी करती है वह यह है कि जोतिबा की विचार यात्रा स्थैतिक नहीं थी, बल्कि गुज़रते वक़्त के साथ इसमें परिवर्तन होता रहा। वक़्त के साथ सामाजिक सच्चाई को समझते हुए फुले के विचार परिपक्व होते गए। ऐसे में जोतिबा फुले की विचार-यात्रा को समझना बहुत ज़रूरी है।

बेशक अपने शुरुआती दिनों में फुले अंग्रेजी शासन के प्रति काफ़ी आशावादी थे जो उनकी लेखनी 'ग़ुलामगिरी' में दिखती है। जहाँ वह ब्राह्मणवाद पर चोट तो करते हैं लेकिन साथ ही साथ अंग्रेजी सत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा भी करते हैं। ग़ुलामगिरी पुस्तक की प्रस्तावना में ज्योतिबा लिखते हैं-" हमारे दयालु अंग्रेज सरकार को शुद्रादि-अतिशूद्रों ने ब्राह्मण-पण्डा-पुरोहितों से किस-किस प्रकार का ज़ुल्म सहा है और आज भी सह रहे हैं, इसके बारे में कुछ भी मालूमात नहीं है। वे लोग यदि इस सम्बन्ध में पूछताछ करके कुछ जानकारी हासिल करने की कोशिश करेंगे तो उन्हें समझ में आएगा कि हमने हिन्दुस्तान का जो-जो भी इतिहास लिखा है उससे एक बहुत बड़े, बहुत भयंकर और बहुत ही बड़े हिस्से को नज़रअन्दाज़ किया है। उन लोगों को एक बार भी शुद्रादि-अतिशूद्रों के दुःख-दर्दों की जानकारी मिल जाय तो उन लोगों को सच्चाई समझ में आएगी और बड़ी पीड़ा होगी।" जैसा कि हमने ज़िक्र किया, फुले शुरुआत में अंग्रेज़ों को प्रबोधन, विज्ञान तर्क और जनवाद का वाहक मानते थे और उनकी ये उम्मीदें वहीं से पैदा होती थीं।

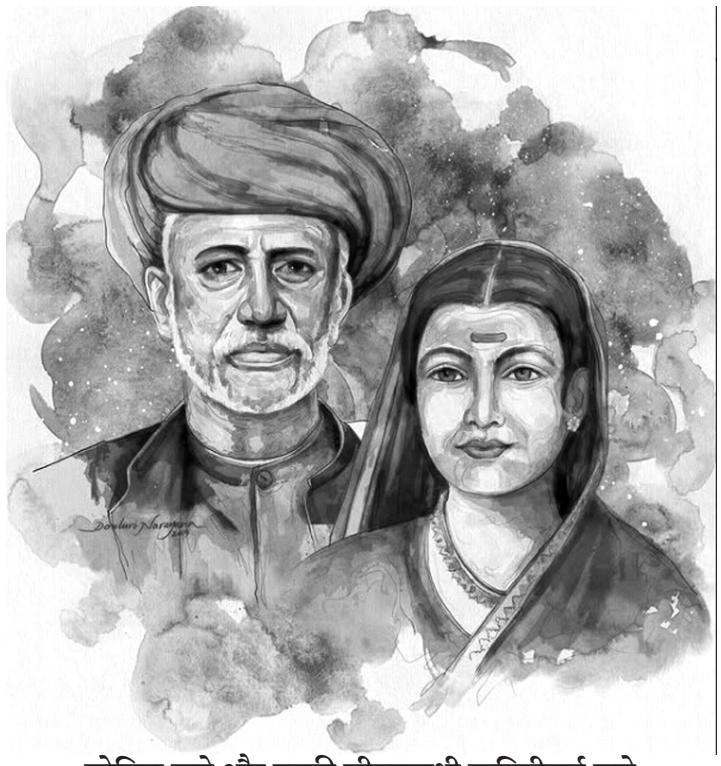

जोतिबा फुले और उनकी जीवनसाथी सावित्रीबाई फुले

यहाँ हमें यह बात समझ लेना चाहिए कि अंग्रेज कोई दलित हितैषी नहीं थे। इसे बाद में फुले भी समझ रहे थे। औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजों द्वारा यहाँ के प्राकृतिक संसाधनों के बेतहाशा दोहन और सस्ती श्रमशक्ति की लूट के उपजात के तौर पर बीमार विकलांग पूँजीवादी विकास की शुरुआत हुई। इसकी वजह से भारत का कठोर जातिगत श्रम विभाजन एक हद तक सीमित तौर पर ढीला पड़ने लगा। इस प्रक्रिया में दलितों के एक अति सूक्ष्म हिस्से को भी अपने जाति आधारित पेशों से इतर पेशा चुनने का मौक़ा मिला। अंग्रेजों द्वारा अपनी सत्ता के पैरोकार पैदा करने के मक़सद से शुरू की गयी शिक्षा व्यवस्था में दलितों के एक बहुत ही छोटे हिस्से को पढ़ने का मौक़ा मिला। साथ ही साथ यह बात भी समझना ज़रूरी है कि अंग्रेजों की संस्कृति में जातिगत भेदभाव और छुआछूत का कोई रूप मौजूद ही नहीं था। इसलिए वे यहाँ भी छुआछूत जैसी चीजों को नहीं मानते थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक सामाजिक आर्थिक संरचना के भीतर से शिक्षित मध्यवर्ग की जो पहली पीढ़ी पैदा हुई उसने यूरोपीय समाज में जनवाद के आदर्शों से प्रेरित होकर ब्राह्मणवाद और हिन्दू धर्म की बुराइयों के विरुद्ध आवाज़ उठायी और इस प्रक्रिया में अंग्रेजी सत्ता को दलित मुक्ति के साधन के तौर पर देखने की प्रवृति पैदा हुई। उस दौर के अधिकांश लोग ब्रिटिश सत्ता के प्रति इस नज़रिये से अन्त तक चिपके रहे। इसकी असली वजह यह थी कि ये लोग अर्द्धसामन्ती भूमि व्यवस्था के पोषक के तौर पर अंग्रेजी सत्ता को नहीं देख सके। लेकिन इसके इतर फुले के विचार विकसित होते रहे और फुले कालान्तर में औपनिवेशिक सत्ता के ख़िलाफ़ भी बोलना शुरू कर चुके थे।

विचारों में परिपक्वता के साथ ही जोतिबा फुले का अंग्रेजों के प्रति आशावाद भी कम होता गया। 1882 के हण्टर आयोग में फुले ने आयोग के समक्ष भारत की शिक्षा व्यवस्था में सुधार के लिए सुझाव के प्रस्ताव रखे। जिसमें सभी के लिए मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा और सरकारी नौकरियों में अनुपातिक आरक्षण की माँग शामिल थी। लेकिन ब्रिटिश हुकूमत द्वारा दलित व पिछड़ों के लिए कोई प्रावधान नहीं किया गया, बल्कि ब्राह्मणवादी ताकतों के पक्ष में आयोग में सिफ़ारिश की गई थी। जिसके बाद फुले इस बात को लेकर आश्चर्यचकित थे कि स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारे के नारे की नुमाइन्दगी करने वाली ब्रिटिश हुकूमत की स्वाभाविक एकता तो दलितों और पिछड़ों के साथ बननी चाहिए। लेकिन अंग्रेजी सत्ता ब्राह्मणवादी ताकतों के पक्ष में बात कर रही थी। इस आयोग के आने के बाद फुले ब्रिटिश हुकूमत की आलोचना करते हैं।

ज्यों-ज्यों फुले का वैचारिक विकास होता गया, वे ब्रिटिश हुकूमत के ब्राह्मणवादी शक्तियों से गठजोड़ को और गहराई से समझने लगे और जिसको अपनी किताब 'किसान का कोड़ा' में खुलकर लिखते हैं। इसमें वे लिखते हैं कि 'अंग्रेजी सत्ता में अधिकांश अधिकारी ब्राह्मण हैं और जो अधिकारी अंग्रेज हैं उनकी हड्डी भी ब्राह्मण की ही है।'

अपने विकसित होते विचारों के साथ जोतिबा ने न केवल प्रचार के स्तर पर जाति व्यवस्था और स्त्री उत्पीड़न के विरुद्ध रैडिकल तेवर अपनाया बल्कि पहली बार उन्होंने अछूतों और स्त्रियों की शिक्षा के लिए संस्थाएँ खड़ी करने का उद्यम किया। इस कार्य में उनका सहयोग किया उनकी जीवनसाथी सावित्रीबाई फुले ने। सबसे पहले तो जोतिबा फुले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को पढ़ना-लिखना सिखाया, बाद में उनकी प्रेरणा से स्त्री-शिक्षा के कार्य को तमाम तरह के उत्पीड़न सहते हुए भी सावित्रीबाई फुले ने जारी रखा।

आज से 176 साल पहले भिड़ेवाडा में जोतिबा और सावित्रीबाई फुले ने लड़कियों के लिए पहला स्कूल खोला था और रूढ़िवादी ब्राह्मणवादी ताकतों से कड़ी टक्कर ली थी। जब उन्होंने इस कार्य की शुरुआत की तो ब्राह्मणवादी ताकतों ने उन पर अत्याचार किया और जोतिबा को उनके पिता का घर छोड़ने के लिए बाध्य किया। तब जोतिबा फुले के संघर्ष में साथ दिया उनके मित्र उस्मान शेख़ ने। उस्मान शेख़ की बहन फ़ातिमा शेख़ ने सावित्रीबाई फुले के साथ मिलकर 1 जनवरी 1848 को अपने घर पर ही लड़कियों के लिए विद्यालय की शुरुआत की। इस संघर्ष के दौरान उन पर पत्थर, गोबर, मिट्टी तक फेंके गए पर सावित्रीबाई फ़ातिमा के साथ मिलकर इस संघर्ष को आगे बढ़ाती रहीं। जातिवाद व अस्मितावाद के ख़िलाफ़ संघर्ष से लेकर विधवाओं के बाल काटने से रोकने के लिए नाइयों की हड़ताल करने, बाल विवाह आदि को रोकने के लिए न केवल जोतिबा फुले खुद लड़ते रहे बल्कि इन संघर्षों में आम जनता की पहलक़दमी को भी प्रोत्साहित किये। विधवा विवाह का समर्थन, बाल-विवाह का निषेध, विधवाओं के बच्चों के पालन-पोषण जैसे अनेक कदमों से जोतिबा और सावित्रीबाई के स्त्री समानता और स्त्री स्वतन्त्रता का दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।

स्त्री मुक्ति व जाति उन्मूलन के संघर्ष में फुले का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। जोतिबा फुले ने लिखा है कि स्त्री और पुरुष जन्म से ही स्वतन्त्र हैं इसलिए दोनों को सभी अधिकार समान रूप से भोगने का अवसर प्रदान होना चाहिए। जोतिबा फुले जाति के सवाल पर लिखते हैं कि जाति का भेदभाव एक अमानवीय प्रथा है। एक अन्य जगह लिखते हैं कि सभी मनुष्य समान हैं। जाति के आधार पर किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

सामाजिक सवालों पर फुले सेठ जी (व्यापारी) व भट्ट जी (पुजारी) दोनों को दुश्मन के रूप में चिह्नित करते थे और इस रूप में जोतिबा फुले अन्य दलित सुधारकों से काफ़ी आगे सोचते हैं। फुले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की थी और उनके संगठन के संघर्षों के परिणामस्वरुप सरकार द्वारा एग्रीकल्चर एक्ट पास किया गया था। मुम्बई की पहले ट्रेड यूनियन जैसे संगठन बम्बई मिल हैंड्स एसोसिएशन का निर्माण ज्योतिबा के शिष्य और मित्र श्री नारायण मेघाजी लोखण्डे ने किया था।

आज के दौर में ज्योतिबा फुले को याद करने का मतलब है समाज में व्याप्त हर प्रकार की ग़ैरबराबरी और

(पेज 21 पर जारी)

अर्बन कम्पनी की “इंस्टा हेल्प” स्कीम: घरेलू कामगारों की सस्ती श्रमशक्ति से मुनाफ़ा कमाने की स्कीम!

रोज़गार के नाम पर शोषण और बदहाली को बढ़ावा देता ‘प्लेटफ़ॉर्म कम्पनियों’ का नेटवर्क!

● अदिति
(दिल्ली घरेलू कामगार यूनियन)

हाल ही में ‘अर्बन कम्पनी’ ने एक और नयी सेवा शुरू की है। अब तक लोगों के घरों तक 15 मिनट में सामान पहुँचाने का बीड़ा उठाने वाली प्लेटफ़ॉर्म कम्पनी अब घरेलू कामगारों की सेवाएँ भी 15 मिनट की फास्ट डिलिवरी के ज़रिये करेगी! जी हाँ, चौकिए मत! ‘इंस्टा हेल्प’ स्कीम के ज़रिये अब इन्सानों को भी इन डिलिवरी सिस्टम के तहत उपलब्ध कराया जायेगा, जिनसे हाउस हेल्प के काम कराये जा सकते हैं! इस “सेवा” की शुरुआती क़ीमत 49 रुपये प्रति घण्टा है। इसमें बर्तन धोना, झाड़ू, पोछा और खाना बनाने जैसी सेवाएँ शामिल हैं। हाल के दिनों में देश के कई बड़े शहरों में इस स्कीम को लागू भी कर दिया गया। इस स्कीम को घरेलू कामगारों के लिए तोहफ़ा बताना न सिर्फ़ घरों में काम करने वाले कामगारों (स्त्री-पुरुष) के साथ एक भद्दा मज़ाक हैं, बल्कि यह पूँजीवादी अमानवीयता और शोषण की नयी बानगी पेश करता है।

“इंस्टा मेड” ही “इंस्टा हेल्प” है, यानी गंगाधर ही शक्तिमान है

अर्बन कम्पनी के कर्ताधर्ता वरुण खेतान पर मोदी सरकार का बहुत गहरा असर पड़ा है। जैसे मोदी सरकार देशभर में बस शहरों-गाँव के बस नाम बदल देती है, ठीक इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अर्बन कम्पनी के वरुण ने “इंस्टा मेड” स्कीम का भी नाम बदल कर “इंस्टा हेल्प” कर दिया है। स्कीम का नाम बदलने के पीछे कम्पनी का तर्क बहुत हास्यास्पद है। इंस्टा हेल्प नाम रखने में घरेलू कामगारों के श्रम की “गरिमा” को ठेस नहीं पहुँचेगी और उन्हें “सम्मानजनक” ज़िन्दगी मिल सकेगी! यानी काम उसी तरह से अपमानजनक तरीक़े से करवाया जायेगा, गरिमा को ठेस पहुँचायी जायेगी, लेकिन अब “मेड” यानी “नौकर” शब्द का इस्तेमाल नहीं किया जायेगा! यानी यह वही बात हो गयी कि कूड़ेदान का नाम बदलकर अगर इत्रदान रख देंगे तो उसमें से ख़ुशबू आने लगेगी! भाषा या नाम बदल देने से सच्चाई नहीं बदल जाती है।

घरेलू कामगारों की सस्ती श्रमशक्ति पर गिद्ध निगाह लगाये बैठी अर्बन कम्पनी उनके श्रम के ज़रिये मुनाफ़ा बनाने के लिए ही अपनी ‘इंस्टा हेल्प ’ स्कीम को लेकर आयी है।

घरेलू कामगार मध्यवर्गीय, उच्च मध्यवर्गीय कॉलोनियों, अपार्टमेंण्टों, बड़ी हाउसिंग बिल्डिंगों में रहने वाले लोगों के घरों में झाड़ू-पोछा, बर्तन साफ़ करने, गाड़ी साफ़ करने से लेकर माली का काम करते हैं। अब तक घरों में काम करने वाली महिलाएँ सीधे निजी उपभोक्ताओं को अपनी सेवाएँ प्रदान कर मज़दूरी पाती थीं। बतौर नियोक्ता यह मध्यवर्गीय व उच्चवर्गीय आबादी घरेलू कामगारों को अपनी आय से मज़दूरी देते हैं। ये आबादी इन घरेलू कामगार के श्रम के उत्पाद को माल के तौर पर किसी और को नहीं बेचते बल्कि उसका व्यक्तिगत उपभोग करते हैं। पूँजीपति मज़दूर के श्रम का इस्तेमाल उत्पादक उपभोग, यानी मालों के उत्पादन में करता है और उस माल को बाज़ार में बेचता है। घरेलू कामगार के श्रम को भाड़े पर इस्तेमाल करने वाले उच्च व मध्यवर्गीय परिवार उसे माल उत्पादन में लगाकर बाज़ार में माल बेचकर मुनाफ़ा नहीं कमाते। वे इस श्रम द्वारा पैदा सेवाओं का स्वयं उपभोग करते हैं। इसलिए घरेलू कामगारों की श्रमशक्ति वैयक्तिक उपभोक्ता परिवारों को सीधे वैयक्तिक उपभोग के लिए बेचे जाने की सूरत में माल उत्पादन में नहीं ख़र्च होती है और इसलिए मूल्य व बेशी मूल्य नहीं पैदा करती है। इसलिए यह मूल्य पैदा करने वाला श्रम, यानी पूँजी के लिए उत्पादक श्रम नहीं है। इस सूरत में भी घरेलू कामगार एक मज़दूर ही होता है, क्योंकि वह अपनी श्रमशक्ति बेचता है जो कि एक माल में तब्दील हो चुकी है। लेकिन वह उत्पादक श्रम में नहीं लगता, बल्कि ग़ैर-उत्पादन श्रम में लगता है। वह सामाजिक रूप से इन वर्गों के लिए ज़रूरी है, लेकिन पूँजी के लिए मूल्य का उत्पादन करने वाला उत्पादक श्रम नहीं है। क्या ऐसे में घरेलू कामगारों का शोषण होता है? हाँ होता है। क्योंकि उसकी श्रमशक्ति माल में तब्दील हो चुकी है और औसत सामाजिक उत्पादकता के अनुसार साधारण श्रम (अकुशल श्रम) एक निश्चित श्रमकाल में जितना मूल्य पैदा करता है, घरेलू कामगार की श्रमशक्ति भी उत्पादक गतिविधि में लगने पर उतना ही मूल्य पैदा करती, जबकि उसकी श्रमशक्ति का मूल्य उससे कम होता है। शोषण एक सामाजिक सम्बन्ध है और ग़ैर-उत्पादन श्रम में लगे मज़दूरों के शोषण को समझने के लिए इस बात को समझना अनिवार्य है।

अब स्थिति बदल रही है। तमाम कम्पनियाँ पैदा हो चुकी हैं जो पहले से ही घरेलू कामगार मुहैया कराने का काम कर रही हैं और अब अर्बन कम्पनी जैसे प्लेटफ़ॉर्म चलाने वाले पूँजीपति भी इस क्षेत्र में मुनाफ़ा पीटने के उद्देश्य से घुस रहे हैं। लूटने के मक़सद से ही अर्बन कम्पनी इन कामगारों का अपने प्लेटफ़ॉर्म बेस्ड ऐप पर पंजीकरण करेगी और इस सेवा को मुहैया करने की एवज़ में उपभोक्ताओं द्वारा किये जाने वाले भुगतान यानी सेवा की बाज़ार क़ीमत का एक हिस्सा मुनाफ़े के रूप में अर्बन कम्पनी को मिलेगा। चूँकि घरेलू कामगार अब स्वयं अपनी श्रमशक्ति वैयक्तिक उपभोक्ता को नहीं बेच रहे हैं, जो इसका व्यक्तिगत उपभोग करने वाले हैं, बल्कि अब एक कम्पनी उन्हें भाड़े पर रखती है और उनकी श्रमशक्ति का इस्तेमाल एक उपयोगी सेवा के उत्पादन में किया जाता है और उस सेवा को व्यक्तिगत उपभोक्ता को यह कम्पनी बेच रही है, इसलिए यह पूँजी के लिए उत्पादक श्रम बन गया और उसके लिए बेशी मूल्य पैदा कर रहा है। हमें यह भी समझना चाहिए कि कोई कम्पनी जब किसी मज़दूर को काम पर रखती है और उसके द्वारा उत्पादित सेवा (जो एक माल ही है) को बेचती है, तो वह कम्पनी माल उत्पादन करवा रही है, उसे बेच रही है और उस मज़दूर के बेशी श्रम का शोषण कर रही है। कम्पनी मज़दूर को सिर्फ़ उसकी श्रमशक्ति का मूल्य देती है, जबकि उसके द्वारा उत्पादित माल या सेवा का मूल्य उससे कहीं ज़्यादा है। यह अन्तर ही बेशी मूल्य है जो कम्पनी के मुनाफ़े का स्रोत है।

अर्बन कम्पनी का दावा और हक़ीक़त

अर्बन कम्पनी यह दावा कर रही है कि इससे घरेलू कामगारों को “फ़ायदा” होगा! उन्हें सिर्फ़ 15 मिनट के भीतर काम मुहैया कराया जायेगा! कम्पनी यह भी दावे कर रही है कि इसके ज़रिये घरेलू कामगार ख़ूब कमाई करेंगी और यह उनके श्रम को गरिमा देगा! लेकिन इन दावों के पीछे की हक़ीक़त क्या है इसको देखते हैं!

घरेलू कामगारों के तहत काम करने वाली आबादी में अधिकांश संख्या स्त्री मज़दूरों की है। काम के दौरान घरेलू कामगारों की सुरक्षा की गारण्टी सुनिश्चित करने की कोई जवाबदेही कम्पनी अपने ऊपर नहीं लेगी। गुडगाँव से लेकर नोएडा और दिल्ली के अलग-अलग मध्यवर्गीय कॉलोनियों में घरेलू कामगारों के साथ होने वाली जघन्य घटनाओं, यौन-उत्पीड़न, छेड़खानी, जातिगत भेदभाव इत्यादि ख़बरों के हम साक्षी बनते रहते हैं। कई मसले तो पैसों के ढेर के नीचे दबा दिये जाते हैं और सामने तक नहीं आते। 15 मिनट में सेवा मुहैया कराने वाली इस स्कीम के आने के बाद ऐसी घटनाएँ और बढ़ेंगी क्योंकि भारत का खाया-पीया-अघाया और मानवीय मूल्यों से रहित खाता-पीता मध्य वर्ग कम से कम समय में अधिक से अधिक काम करवाने की लालसा के साथ इंस्टा हेल्प का इस्तेमाल करेगा और प्लेटफ़ॉर्म कम्पनियाँ क्योंकि औपचारिक तौर पर नियोक्ता की भूमिका में नहीं हैं, इसलिए उनकी कोई जवाबदेही इन तमाम मसलों पर नहीं होगी। प्लेटफ़ॉर्म कम्पनी से पहले यह काम तमाम प्लेसमेण्ट एजेंसियाँ करती रही हैं, जो उचित मज़दूरी या सुरक्षा की गारण्टी दिये बिना रोज़गार के लिए उच्च शुल्क वसूल कर घरेलू श्रमिकों का शोषण करती हैं। श्रमिकों को अक्सर उनके रोज़गार की शर्तों (जिनमें वेतन या नौकरी की ज़िम्मेदारियाँ शामिल हैं) के बारे में जानकारी नहीं दी जाती है।

आज इंस्टामार्ट, ब्लिंकिट, जोमैटो इत्यादि जैसी प्लेटफ़ॉर्म कम्पनियों के गिग मज़दूरों के उदाहरण भी हमारे सामने हैं। इंस्टा हेल्प स्कीम की हक़ीक़त समझने से पहले हम गिग अर्थव्यवस्था में काम कर रहे मज़दूरों की हालत पर एक बार ग़ौर करते हैं। स्विगी, ज़ोमैटो, इंस्टामार्ट, अर्बन कम्पनी आदि जैसे प्लेटफ़ॉर्मस के लिए काम करने वाले चालक, होम डिलिवरी मज़दूर आदि को हम प्लेटफ़ॉर्म आधारित गिग वर्कर्स कहते हैं। ये प्लेटफ़ॉर्म कम्पनियाँ ख़ुद को नियोक्ता नहीं बताती हैं और इसलिए मज़दूरों को आने वाली किसी भी समस्या के लिए ज़िम्मेदारी नहीं लेती हैं। ये सभी कम्पनियाँ ये दावा करती हैं कि इनका काम सिर्फ़ सूचना जुटाकर उपभोक्ताओं और सेवा-प्रदाताओं तक पहुँचाना होता है। उनके अनुसार मज़दूर उनके कर्मचारी नहीं हैं बल्कि अपने काम के मालिक वे ख़ुद हैं, लेकिन असलियत में सेवा की क़ीमत ये कम्पनियाँ तय करती हैं, सेवा की स्थितियाँ और शर्तें भी ये कम्पनियाँ ही तय करती हैं। ऐसे में, वास्तव में उनकी भूमिका नियोक्ता की ही होती है। इस बात को समझने के लिए हम एक डिलिवरी बॉय का उदाहरण लेते हैं। प्रति डिलिवरी मिलने वाले रुपये को तय करने का काम कम्पनी करती है, समय से डिलिवरी करने से लेकर एक दिन में न्यूनतम डिलिवरी कि संख्या जैसे अन्य तमाम तरह की शर्तें लागू करने का काम यही कम्पनियाँ करती हैं और अगर कोई डिलिवरी बॉय इनके मानकों के हिसाब से काम नहीं कर पाता है तो उसकी रेटिंग कम हो जाती है, जिससे की उसे काम मिलना मुश्किल होता जाता है। कम्पनी की शर्तों को पूरा करने के लिए और गुज़ारे लायक कमाई के लिए इस अर्थव्यवस्था में लगे मज़दूरों को रोज़ाना 12-15 घण्टे काम करना होता है। इसके साथ ही इन मज़दूरों के साथ आए-दिन होने वाले भेदभाव, उत्पीड़न और अमानवीय घटनाओं की भी कहीं कोई सुनवाई नहीं है। अब इस दायरे में घरेलू कामगारों को भी लाया जा रहा है। इंस्टा मेड स्कीम के आने से घरेलू कामगारों का शोषण और उत्पीड़न बरक़रार रहेगा और अब उनके इस शोषण का सीधा फ़ायदा पूँजीपतियों को मिलेगा।

जब तक घरेलू मज़दूरों को आधिकारिक तौर पर मज़दूर का दर्जा नहीं मिलेगा, तब तक ऐसी सभी स्कीम उनके हक़-अधिकारों को कुचलने का ही एक माध्यम बनेगी।

‘दिल्ली घरेलू कामगार यूनियन’ माँग करती है कि :

● घरेलू मज़दूरों का श्रम विभाग में पँजीकरण किया जाये और वहीं से उनका प्लेसमेण्ट हो।

● बिचौलिये का काम करने वाली प्लेसमेण्ट एजेंसियों और प्लेटफार्म बेस्ड कम्पनी की भूमिका को विनियमित किया जाय और उनके साथ कामगारों के सम्बन्ध को नियोक्ता-मज़दूर सम्बन्ध के रूप में स्वीकारा जाय ताकि उन्हें सारे श्रम अधिकार प्राप्त हो सकें। कालान्तर में ऐसी निजी कम्पनियों की भूमिका को ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

● घरेलू कामगारों के लिए सरकार ‘लेबर एक्सचेंज’ का गठन करे, जिसके ज़रिये ही कोई उन्हें काम पर रख सकता है।

● घरेलू मज़दूरों का वेतन, ओवरटाइम व अन्य सुविधाएँ सीधे उनके खाते में पहुँचे।

हम अर्बन कम्पनी की इस स्कीम के ख़िलाफ़ घरेलू कामगारों को एकजुट और संगठित होने का आह्वान करते हैं।

अँधेरा है घना पर संघर्ष है ठना

साम्प्रदायिक फ़ासीवादी दौर में घटता जनवादी स्पेस व बढ़ते छात्र-युवा आन्दोलन

● अविनाश

हाथ मिलाओ साथी, देखो
अभी हथेलियों में गर्मी है।
पंजों का कस बना हुआ है।
पीठ अभी सीधी है,
सिर भी तना हुआ है।
अन्धकार तो घना हुआ है
मगर गोलियथ से डेविड का
द्वंद्व अभी भी ठना हुआ है।
– शशिप्रकाश

फ़ासीवादी मोदी सरकार के कार्यकाल में छात्र-युवा आन्दोलनों पर दमन का पाटा लगातार चल रहा है। मगर सड़कों पर बढ़ते इन आन्दोलनों को दबाने की तमाम कोशिशों के बावजूद संघर्ष थम नहीं रहा है। ऐसे में हमें यह समझने की ज़रूरत है कि छात्र-युवा आन्दोलनों पर हो रहा हमला, जनवादी अधिकारों पर हो रहे व्यापक हमले का ही एक अंग है। आम मेहनतकश जनता को भी इन जनवादी अधिकारों पर हो रहे हमलों को समझने और उनके साथ खड़ा होने की आवश्यकता है। आइए सबसे पहले जनवादी अधिकारों और छात्र-युवा आन्दोलन पर हो रहे हमलों के कारणों की पड़ताल करते हैं।

छात्र-युवा आन्दोलन और जनवादी अधिकारों पर हमले के कारण

आज एक ओर जहाँ फ़ासीवादी मोदी सरकार के आने के बाद से निजीकरण और उदारीकरण की नीतियाँ तेज़ गति से लागू की जा रही हैं, वहीं जनता के पैसे से खड़े किए गए पब्लिक सेक्टर के संस्थानों को जानबूझकर बर्बाद करके पूँजीपतियों को बेचा जा रहा है। "नयी शिक्षा नीति" और "अग्निवीर" जैसी योजनाएँ सीधे तौर पर शिक्षा के बाज़ारीकरण और पब्लिक सेक्टर में ठेकाकरण को बढ़ावा दे रही हैं। दूसरी ओर इन नीतियों का प्रभाव आम जनजीवन में भी साफ़ देखा जा सकता है महँगाई, ग़रीबी, बेरोज़गारी और चरमराती स्वास्थ्य व्यवस्था ने जनता की हालत बदतर बना दी है।

मगर इन मुद्दों पर चर्चा कहाँ हो रही है? इन वास्तविक समस्याओं से ध्यान भटकाने के लिए फ़ासीवादी मोदी सरकार ने नकली दुश्मन खड़ा करते हुए, साम्प्रदायिक फ़ासीवादी उन्माद भड़काने का काम तेज़ कर दिया है। हर दिन नए नारे और मुद्दे उछाले जा रहे हैं—"लव जिहाद", "शरबत जिहाद", "गौ रक्षा", "औरंगजेब", प्रोपेगैण्डा फिल्में, संभल-अजमेर व अन्य जगहों पर पुरातत्व विभाग द्वारा निरीक्षण के आदेश, उपासना स्थल अधिनियम, 1991 में बदलाव की कोशिशें, धार्मिक अनुष्ठानों व धर्म संसदों और वक्फ़ बोर्ड के नाम पर समाज में साम्प्रदायिक तनाव खड़ा करने की कोशिशें लगातार जारी हैं।

ऐसे में जब प्रगतिशील संगठन, न्यायपसन्द छात्र-युवा, बुद्धिजीवी, कलाकार, पत्रकार और मानवाधिकार कार्यकर्ता भाजपा के फ़ासीवादी चरित्र की पोल खोल रहे हैं, तब सरकार जनता के सीमित जनवादी अधिकारों और छात्र-युवा आन्दोलनों को कुचलने पर आमादा है। इसका उद्देश्य स्पष्ट है - जनअसन्तोष की आँच भाजपा के सिंहासन को राख कर देने से पहले ही बुझा दी जाये। यही कारण है कि आज सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं, प्रगतिशील लेखकों, निष्पक्ष पत्रकारों, जागरूक छात्र-युवाओं और सच्चाई बोलने वाले कलाकारों की आवाज़ों को व्यवस्थित ढंग से दबाया जा रहा है।

सत्ता के इस दमनचक्र में यूएपीए, एनएसए जैसे काले क़ानूनों का इस्तेमाल, फर्जी मुकदमों का सिलसिला और निरन्तर प्रताड़ना के जरिए विरोध की आवाज़ों को कुचला जा रहा है। इन हालात में हमें यह समझना होगा कि छात्र-युवा आन्दोलन पर हमला, फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा जनवादी अधिकारों को कुचलने की व्यापक रणनीति का हिस्सा है। छात्र-युवा आन्दोलन और कैम्पस जनवाद - यानी कैम्पस में विचारों की खुली अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता - सत्ता की गलत नीतियों को चुनौती देने का प्रमुख केन्द्र बने हुए हैं। यही वजह है कि 2014 के बाद से फ़ासीवादी मोदी सरकार लगातार इन आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश कर रही है - चाहे वह रोहित वेमुला की संस्थागत हत्या हो या FTII के छात्रों का संघर्ष, हैदराबाद विश्वविद्यालय का आन्दोलन हो या जेएनयू में देशद्रोह के झूठे मुकदमे, यह सब उसी कड़ी से जाकर ही जुड़ते हैं।

छात्र-युवा आन्दोलन की बढ़ती तीव्रता

छात्र-युवा आन्दोलन में निरन्तरता और तीव्रता में गुणात्मक वृद्धि हुई है। ऐसे में जहाँ एक ओर विश्वविद्यालयों को फ़ासीवाद की प्रयोगशाला बनाने का काम तेज़ी से किया जा रहा है, जिसके तहत लखनऊ विश्वविद्यालय ने फ़रमान में देखने को मिलता है, जिसमें 'प्रोफ़ेसर ऑफ़ प्रैक्टिस' के तहत शिक्षकों की नियुक्ति के लिए शैक्षणिक योग्यता की शर्त ही समाप्त कर दिया गया है। इन तथाकथित प्रोफ़ेसरों की नियुक्ति के लिए कोई शैक्षणिक योग्यता नहीं रखी गई है। ज़ाहिर है, यह शैक्षणिक संस्थानों में फ़ासीवादी गुर्गों को शिक्षकों के नाम पर घुसाने का एक षड्यन्त्र है। ठीक इसी तरह, राम मन्दिर के उद्घाटन की बरसी पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में हनुमान चालीसा के पाठ से लेकर तरह-तरह के धार्मिक कार्यक्रम आयोजित कराये जा रहे है। संघ की फ़ासिस्ट गुण्डावाहिनी एबीवीपी के सम्मेलन के लिए गोरखपुर विश्वविद्यालय प्रशासन ने पलकें बिछा दीं गयी, और जिला प्रशासन ने विद्यालयों को आदेश दिया कि वे अपने छात्रों को सम्मेलन में लेकर जायें। वहीं दूसरी ओर फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा किये जा रहे व्यवस्थित हमलों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध भी देखने को मिला है। ऐसे में अभी हाल ही में हुये छात्र-युवा आन्दोलन हमारे सामने कुछ बेहद ज़रूरी सवाल लेकर सामने लेकर खड़े हैं।

जामिया छात्र आन्दोलन : दमन के बावजूद संघी साजिशों का ज़बरदस्त प्रतिरोध

15 दिसम्बर 2019 को हुई पुलिस की जघन्य बर्बरता के विरोध में 16 दिसम्बर 2024 को जामिया के छात्र एक बार फिर एकजुट हुए। यह वही तारीख थी जब दिल्ली पुलिस ने परिसर में घुसकर जाकिर हुसैन पुस्तकालय में पढ़ रहे निरीह छात्रों को बेरहमी से पीटा था। इस बार भी प्रदर्शनकारियों पर भयंकर दमन ढाया गया—पुलिस ने छात्रों को जबरन हटाने की कोशिश की, धरना स्थल को खाली करवाया और आन्दोलन को कुचलने की हर सम्भव साजिश रची। लेकिन विश्वविद्यालय प्रशासन की सबसे शर्मनाक हरक़त तब सामने आई, जब उसने शताब्दी द्वार (गेट नम्बर 13), लॉ फैकल्टी गेट और अन्य स्थानों पर 17 छात्रों के नाम, पते, कोर्स और व्यक्तिगत विवरण वाली एक सूची सार्वजनिक कर दी। इनमें कई किशोर महिला छात्राएँ भी शामिल थीं, जिनके निजी फोन नम्बर तक लोगों के सामने प्रकाशित कर दिए गए। यह न सिर्फ निजता के अधिकार का गम्भीर उल्लंघन था, बल्कि छात्रों को प्रताड़ित करने और उनकी सुरक्षा को जानबूझकर ख़तरे में डालने का सुनियोजित षड्यन्त्र भी था। मगर इन सारे दमन की कार्यवाही में कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि जब जामिया के वीसी खुद एबीवीपी के पूर्व सदस्य रहे हैं और सीएए-एनआरसी जैसे विवादास्पद क़ानूनों का खुला समर्थन कर चुके हैं तो आप इनसे क्या ही उम्मीद रख सकते है। फ़ासीवादी मीडिया ने एक बार फिर इस मौक़े का फायदा उठाकर जामिया को बदनाम करने की कोशिश की, और प्रशासन ने उनके साथ मिलीभगत करते हुए छात्रों के ख़िलाफ़ यह घृणित कदम उठाया। लेकिन छात्रों ने हार नहीं मानी! उनके प्रदर्शन ने न सिर्फ संघी साजिशों को बेनकाब किया, बल्कि इस दमनकारी व्यवस्था के ख़िलाफ़ जबरदस्त प्रतिरोध भी खड़ा किया। यह संघर्ष सिर्फ जामिया तक सीमित नहीं है, बल्कि यह पूरे देश के छात्रों और युवाओं के लिए एक स्पष्ट सन्देश है कि फ़ासीवादी ताकतों के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी रहेगी!

हैदराबाद छात्र आन्दोलन : बुर्जुआ पार्टी के सहारे फ़ासीवाद को हराने का भ्रम

एक गहरा भ्रम आज छात्र आन्दोलनों में व्याप्त है—कि मोदी सरकार के फ़ासीवादी रवैये के ख़िलाफ़ किसी बुर्जुआ चुनावी पार्टी या उसके छात्र संगठनों के माध्यम से प्रतिरोध सम्भव है। हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय (HCU) के हालिया संघर्ष ने इस झूठी उम्मीद की पोल खोलकर रख दी है।

एचसीयू के छात्र तेलंगाना सरकार द्वारा विश्वविद्यालय की 400 एकड़ जमीन की नीलामी के ख़िलाफ़ डटे हुए थे। उनकी माँग स्पष्ट थी—कैम्पस की ज़मीन पर छात्रों के अधिकार और स्थानीय जैव विविधता का संरक्षण। लेकिन जब छात्रों ने पूर्वी कैम्पस में ज़मीन साफ़ करने आयी JCB मशीनों को रोकने की कोशिश की, तो तेलंगाना पुलिस ने बर्बरता का नंगा नाच किया—छात्रों को ज़मीन पर घसीटा, लाठियाँ बरसाईं और दर्जनों को हिरासत में ले लिया गया। यह सारा काम कांग्रेस शासित राज्य में हुआ है और ख़ास तौर से इस पूरे प्रकरण में कांग्रेस की छात्र शाखा एनएसयूआयी की सुनियोजित चुप्पी बहुत कुछ कह जाती है। साथ ही, यह उन तमाम तथाकथित 'प्रगतिशील' छात्र संगठनों की वास्तविक प्रकृति को भी उजागर करता है, जो खुद को स्वतन्त्र बताने का दावा ठोकते रहते हैं। क्या इसी कांग्रेस सरकार के सहारे फ़ासीवाद को हराने की योजना बनाई जा रही है?

जादवपुर विश्वविद्यालय: छात्रों का संघर्ष और टीएमसी सरकार का दमनचक्र

1 मार्च 2025 को जादवपुर विश्वविद्यालय के छात्रों ने पश्चिम बंगाल के शिक्षा मन्त्री ब्रत्य बसु के सामने एक स्पष्ट सवाल रखा—आखिर परिसर में छात्र संघ चुनाव कराने की उनकी न्यायसंगत और लोकतान्त्रिक माँग को लगातार अनसुना क्यों किया जा रहा है? लेकिन जवाब में मन्त्री महोदय ने मौक़े से भागने को ही उचित समझा। और इस भागदौड़ में उनके क़ाफिले की एक गाड़ी ने एक छात्र को गम्भीर रूप से घायल कर दिया। यह घटना इसलिए भी चौंकाने वाली है क्योंकि जादवपुर विश्वविद्यालय में पिछले पाँच साल से कोई छात्रसंघ चुनाव नहीं हुआ है। यह साफ़ दिखाता है कि विश्वविद्यालय प्रशासन किसके इशारों पर नाच रहा है। जादवपुर पुलिस ने भी सत्तारूढ़ दल के प्रति अपनी निष्ठा का परिचय देते हुए छात्रों के थाने पर धरना देने के बाद ही एफआईआर दर्ज की। हैरानी की बात यह है कि यह एक शान्तिपूर्ण प्रदर्शन था, जिसमें साधारण छात्र शामिल थे। लेकिन राज्य सरकार ने उन्हें डराने के लिए भारी पुलिस बल और अर्धसैनिक दंगा नियन्त्रण टुकड़ियों को तैनात कर

(पेज 11 पर जारी)

वक़्फ़ क़ानून में नये संशोधनों पर मज़दूर वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए?

● आनन्द

पिछली 3 और 4 अप्रैल को आख़िरकार मोदी-शाह सरकार वक़्फ़ (संशोधन) विधेयक-2025 को क्रमश: लोकसभा और राज्यसभा में पारित करवाने में कामयाब हो गयी। अगले ही दिन राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू ने झटपट इस विधेयक को मंजूरी देते हुए इसे क़ानूनी जामा पहना दिया। चूँकि फ़ासिस्टों के पास अपने दम पर इस विधेयक को पारित करवाने के लिए ज़रूरी बहुमत नहीं था इसलिए वे अपने गठबन्धन के घटक दलों, मुख्य रूप से चन्द्रबाबू नायडू की तेलुगूदेशम पार्टी और नीतीश कुमार की जनता दल (यूनाइटेड), के समर्थन पर निर्भर पर थे। इन दो घोर जनविरोधी, मौक़ापरस्त और अल्पसंख्यक-विरोधी दलों ने फ़ासिस्टों को निराश नहीं किया और कुछ मामूली संशोधनों को सुझाने के बाद निहायत ही बेशर्मी से इस विधेयक के पक्ष में मत देकर फ़ासिस्टों के संकटमोचन का काम किया। कांग्रेस सहित तमाम विपक्षी दलों ने संवैधानिक प्रावधानों का हवाला देते हुए इस विधेयक के ख़िलाफ़ मत दिया। सवाल यह उठता है कि इन संशोधनों पर हम मज़दूरों का नज़रिया क्या होना चाहिए। वक़्फ़ क़ानून में फ़ासिस्टों द्वारा किये गये नये संशोधनों का विरोध ज़्यादातर क़ानूनी और संवैधानिक नज़रिये से ही हो रहा है। परन्तु फ़ासिस्टों की असली चाल समझने के लिए हमें क़ानूनी और संवैधानिक पहलुओं से आगे जाकर इस मुद्दे की तह में जाना होगा और इसके पीछे की राजनीति को समझना होगा।

वक़्फ़ है क्या?

वक़्फ़ इस्लाम धर्म में ख़ैरात के कई तरीक़ों में से एक है। इसके तहत कोई व्यक्ति अपनी चल या अचल सम्पत्ति को किसी धर्मार्थ कार्य जैसे मस्जिद, कब्रिस्तान, मदरसा, अनाथालय, अस्पताल इत्यादि के लिए दे सकता है। यह स्थायी रूप से दिया गया दान होता है यानी एक बार कोई सम्पत्ति दान देने के बाद उसे वापस नहीं लिया जा सकता है क्योंकि इस्लाम धर्म की मान्यता है कि वक़्फ़ को दिया गया दान अल्लाह को समर्पित होता है। ग़ौरतलब है कि भारत में वक़्फ़ की यह प्रथा सदियों से चली आयी है। दिल्ली सल्तनत और मुग़ल कालीन शासकों के समय से ही वक़्फ़ सम्पत्तियों के प्रशासन और उनके ऊपर निगरानी रखने की व्यवस्था रही है। अंग्रेज़ों ने भारत पर क़ब्ज़ा जमाने के बाद वक़्फ़ की सम्पत्तियों के विनियमन के लिए क़ानून बनाए और उनमें समय-समय पर संशोधन किये। आज़ादी के बाद वक़्फ़ की सम्पत्तियों के प्रबन्धन हेतु 1954 में एक केन्द्रीय वक़्फ़ क़ानून बनाया गया। 1995 में इस क़ानून को भंग करके एक नया क़ानून लाया गया। 2013 में वक़्फ़ अधिनियम 1995 में कुछ संशोधन किये गये थे। मौजूदा संशोधन 1995 के ही वक़्फ़ कानून में किये गये हैं। वक़्फ़ क़ानून के तहत वक़्फ़ सम्पत्तियों का प्रबन्धन विभिन्न राज्यों में स्थित 30 वक़्फ़ बोर्ड और एक केन्द्रीय वक़्फ़ परिषद द्वारा किया जाता है।

वक़्फ़ क़ानून में संशोधन के पक्ष में सरकारी दावे

संसद में वक़्फ़ क़ानून में किये जा रहे संशोधनों की वकालत करते हुए गृहमन्त्री अमित शाह ने कहा कि इन संशोधनों का मक़सद मुस्लिमों के धार्मिक मामलों में राज्य की दख़लन्दाज़ी को बढ़ावा देना नहीं है बल्कि उनकी धार्मिक व धर्मार्थ सम्पत्तियों के प्रशासन को प्रभावी बनाना है। उन्होंने बताया कि सरकार की मंशा वक़्फ़ सम्पत्तियों के प्रशासन को ज़्यादा पारदर्शी व जवाबदेह बनाने तथा भ्रष्टाचार को दूर करने की है। उन्होंने इन संशोधनों के ज़रिये वक़्फ़ निकायों का जनवादीकरण करने की बात भी की। साथ ही उन्होंने वक़्फ़ सम्पत्तियों के रिकॉर्ड के कम्प्यूटरीकरण की ज़रूरत पर बल दिया है। उनका दावा है कि इस विधेयक के लागू होने का फ़ायदा ग़रीब मुसलमानों, मुसलमान औरतों, पसमांदा मुसलमानों आदि को होगा। परन्तु जैसे ही हम इन दावों की पड़ताल सच्चाई की रोशनी में करते हैं तो इन दावों की हवा निकल जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मुस्लिम अल्पसंख्यकों पर एक नया फ़ासीवादी हमला और साम्प्रदायिकीकरण की नयी साज़िश है।

वक़्फ़ क़ानून में संशोधन के पीछे फ़ासिस्टों की असली मंशा

वक़्फ़ सम्पत्तियों के कुप्रबन्धन और उनमें व्याप्त भ्रष्टाचार के तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु वक़्फ़ ही क्यों, सच तो यह है कि इस देश में धर्म-कर्म के नाम पर सभी धर्मों की धार्मिक व धर्मार्थ संस्थाओं ने सम्पत्ति का विशाल अम्बार खड़ा किया हुआ है जिनके प्रबन्धन में भी कोई जवाबदेही या पारदर्शिता नहीं है और इस मामले में हिन्दू धर्म के मन्दिरों, ट्रस्टों आदि में जो अरबों-खरबों का भ्रष्टाचार होता है, उसका तो किसी अन्य धर्म में कोई मुक़ाबला ही नहीं है। ऐसे में केवल इस्लाम धर्म की किसी संस्था में भ्रष्टाचार को लेकर ही अमित शाह के पेट में मरोड़ क्यों उठ रहा है? शाह इतने भोले तो हैं नहीं कि उन्हें यह पता ही न होगा कि इस देश में तमाम मन्दिरों, मठों, गुरुद्वारों, गिरजाघरों और बाबाओं के तमाम आश्रमों ने लोगों की धार्मिक आस्था के नाम पर अकूत सम्पदा इकट्ठी कर रखी है और उनके प्रबन्धन में भी ज़बर्दस्त भ्रष्टाचार होता है। वास्तव में, सबसे ज़्यादा समृद्ध तो तमाम हिन्दू मन्दिरों के ट्रस्ट व बोर्ड आदि हैं, जिनके पास जमा अथाह सम्पत्ति व धन-दौलत पर दशकों से गम्भीर सवाल उठते रहे हैं। इसी प्रकार तमाम गुरुद्वारों व गिरजाघरों और मठों के पास जमा चल व अचल सम्पत्ति का कोई हिसाब नहीं है।

लेकिन सरकार को इन सभी सम्पत्तियों के प्रशासन को प्रभावी व जवाबदेह बनाने का ख़्याल नहीं आया और उनके निशाने पर सिर्फ़ एक ही मजहब की संस्थाएँ आ रही हैं। इस्लाम के अलावा बाक़ी धर्मों की संस्थाओं से जुड़ी सम्पत्तियों के रिकॉर्ड का कम्प्यूटरीकरण करने का ख़्याल अमित शाह के दिमाग़ में क्यों नहीं आया? अगर गृहमन्त्री महोदय धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्तियों के प्रबन्धन में हो रहे भ्रष्टाचार से वाक़ई चिन्तित होते तो एक ऐसा विधेयक लाते जिसमें सभी धर्मों से सम्बन्धित सम्पत्तियों के प्रशासन को ज़्यादा पारदर्शी और जवाबदेह बनाने के प्रावधान होते। आख़िर उनकी पार्टी ही तो इन दिनों 'समान नागरिक संहिता' और 'एक राष्ट्र एक क़ानून' पर ख़ूब चिल्ल-पों मचा रही है! यह एक अच्छा मौक़ा था जब भाजपा अगर चाहती तो सभी धर्मों के लिए एकसमान क़ानून की दिशा में एक बड़ा क़दम उठा सकती थी। लेकिन असलियत तो यह है कि उसकी मंशा ये है ही नहीं। उसकी मंशा तो मुस्लिम समुदाय को पिछड़ा बताकर लगातार उसके ख़िलाफ़ नफ़रत का माहौल क़ायम रखने और उनके ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक उन्माद फैलाने की है।

गृहमन्त्री ने वक़्फ़ सम्पत्तियों के आँकड़े तो संसद में विस्तार से प्रस्तुत किये लेकिन इन मन्दिरों, मठों, गुरुद्वारों, गिरजाघरों और आश्रमों की सम्पत्तियों पर शातिराना चुप्पी साधे रखी। यानी केवल इस्लाम धर्म की संस्थाओं के प्रशासन को "दुरुस्त" करने को लेकर अमित शाह के पेट में मरोड़ उठ रहा है, लेकिन उससे कहीं ज़्यादा भ्रष्टाचार व व्याभिचार में लिप्त और उससे कहीं ज़्यादा सम्पदा व धन के मालिक मठों, महन्तों व मन्दिरों की जाँच व उनकी सम्पत्तियों के विनियमन में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। यानी, एक ख़ास धर्म को इस मामले में सरकार ने अलग किया है और उसके प्रति सरकार का रवैया भिन्न है। ज़ाहिर है, इस भेदभाव के पीछे मक़सद है मुसलमान अल्पसंख्यक आबादी को दोयम दर्जे का नागरिक बनाना, उनके दमन-उत्पीड़न को तीव्र करना और देश में साम्प्रदायिक उन्माद के तन्दूर को गर्म रखना ताकि उस पर संघ परिवार व भाजपा अपनी चुनावी रोटियाँ सेंक सकें।

जहाँ तक इन संशोधनों का फ़ायदा ग़रीब मुसलमानों, मुसलमान औरतों व पसमाँदा मुसलमानों को मिलने का सवाल है, तो अमित शाह के इस दावे का तथ्यों व तर्कों से कोई रिश्ता नहीं है। अगर उन्हें ग़रीबों, औरतों व दलितों से इतना ही प्रेम है, तो इसी प्रकार का "जनवादीकरण" वह हिन्दू धर्म व उसकी संस्थाओं में क्यों नहीं करते? वहाँ तो ग़रीबों, औरतों व दलितों की और भी ज़्यादा बुरी हालत है। ज़ाहिर है, यह बस एक जुमला है ताकि 'बाँटो और राज करो' की नीति के तहत मुसलमान आबादी को आपस में लड़ाकर उनके फ़ासीवादी दमन को आसान बनाया जा सके। बोहरा मुस्लिमों और आग़ा ख़ानियों के लिए अलग वक़्फ़ बोर्ड बनाने के पीछे इन समुदायों की भलाई नहीं बल्कि मुस्लिम समुदाय के अलग-अलग फ़िरकों को आपस में लड़ाने की मंशा काम कर रही है। इसी प्रकार भाजपा द्वारा पसमांदा मुसलमानों का मुद्दा उछालने के पीछे उसकी मंशा ग़रीब मुसलमानों का कल्याण नहीं बल्कि मुस्लिम समुदाय के भीतर वर्गीय विभाजन का फ़ायदा अपने फ़ासीवादी हितों को साधने की है। अगर सरकार की मंशा वाक़ई धार्मिक संस्थाओं के जनवादीकरण या सेक्युलराइज़ेशन की होती तो वह सभी धर्मों व उनकी संस्थाओं पर एकसमान रूप में लागू करती। वैसे भी इस विधेयक का ग़रीब मुसलमानों, मुसलमान औरतों व पसमाँदा मुसलमानों से सीधे तौर पर कोई लेना-देना नहीं है और जहाँ तक जनवादीकरण से होने वाले आम फ़ायदों से इन सामाजिक हिस्सों के लाभान्वित होने की बात है, तो अमित शाह को पहले हिन्दू धर्म और उसकी संस्थाओं और मठों-बाबाओं के बारे में चिन्तित होना चाहिए, जहाँ औरतों के बलात्कार से लेकर दलितों के मन्दिर में प्रवेश पर मनाही और नंगे भ्रष्टाचार और व्यभिचार की घटनाओं तक, जनवाद और सेक्युलरिज़्म के आदर्शों की धज्जियाँ लगातार ही उड़ायी जाती हैं। जहाँ तक वक़्फ़ बोर्डों में महिलाओं के प्रतिनिधित्व का सवाल है तो सरकार ने शातिराना ढंग से यह तथ्य छिपा दिया कि 1995 के वक़्फ़ क़ानूनों में पहले से ही महिलाओं के प्रतिनिधित्व के प्रावधान थे। महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाना तो दूर नये संशोधनों में उसे कम ही करने की तैयारी की गयी है। ऐसा इसलिए क्योंकि पहले के प्रावधान में वक़्फ़ बोर्डों में 'कम से कम दो महिलाओं' की नुमाइन्दगी की बात थी जबकि नये संशोधनों में बस 'दो महिलाओं' की नुमाइन्दगी के प्रावधान हैं। इस प्रकार अपने चिर-परिचित अन्दाज़ में फ़ासिस्टों को संसद में भी सफ़ेद झूठ बोलने में ज़रा भी शर्म नहीं आयी।

ग़ौरतलब है कि मुसलमानों की धार्मिक व धर्मार्थ सम्पत्तियों के प्रशासन के लिए तो एक केन्द्रीय क़ानून पहले से ही मौजूद था, लेकिन हिन्दुओं व अन्य धर्मावलम्बियों की धार्मिक सम्पत्तियों के प्रशासन के लिए कोई भी केन्द्रीय क़ानून नहीं है। कुछ राज्यों में हिन्दू संस्थाओं से जुड़ी सम्पत्तियों के लिए क़ानून हैं, परन्तु अखिल भारतीय स्तर पर ऐसा कोई भी क़ानून नहीं है। ऐसे में सबके लिए एकसमान क़ानून की बात करने वाली भाजपा सभी धर्मों की सम्पत्तियों के पारदर्शी प्रशासन के लिए केन्द्रीय स्तर पर कोई विधेयक क्यों नहीं पेश कर रही है? वजह साफ़ है, इन फ़ासिस्टों की मंशा धार्मिक सम्पत्तियों के प्रबन्धन में भ्रष्टाचार ख़त्म करने की है ही नहीं। इन्हें तो बस अपनी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति के तहत समाज में मुस्लिमों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाने के लिए नये-नये मुद्दे सामने लाकर समाज में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण बढ़ाना है। इसलिए वक़्फ़ विधेयक को भी मुसलमानों को एक नक़ली दुश्मन के रूप में पेश करने की फ़ासिस्ट रणनीति की निरन्तरता में ही देखने की ज़रूरत है।

नये वक़्फ़ संशोधनों में वक़्फ़ बोर्डों और वक़्फ़ परिषद में ग़ैर-मुस्लिमों को भी शामिल करने का प्रावधान है। भाजपा इसे वक़्फ़ निकायों को ज़्यादा वैविध्यीकृत और समावेशी बनाने की दिशा में एक क़दम बता रही है। अच्छी बात है। तो फिर तमाम मन्दिरों-मठों-आश्रमों के प्रबन्धन को वैविध्यीकृत और समावेशी बनाने का ख़याल उनके ज़ेहन में क्यों नहीं आया? क्या वे वैष्णो देवी, तिरुपति बालाजी, शिर्डी के साईं बाबा जैसे मन्दिरों की सम्पत्ति के प्रबन्धन में मुस्लिमों, ईसाइयों आदि को शामिल करने के लिए तैयार होंगे? ज़ाहिरा तौर पर नहीं। वहाँ तो उन्हें वैविध्यीकरण और समावेशन की नहीं बल्कि हिन्दुओं की आस्था याद आने लगेगी और हमें बताया जायेगा कि जो संस्था हिन्दुओं के धार्मिक व आध्यात्मिक कामों के लिए है उसमें किसी अन्य धर्म के लोग भला कैसे रह सकते हैं? उनकी सम्पत्तियों व धन-दौलत की जाँच कैसे की जा सकती है? सारे फ़ासीवादी नफ़रती चिण्टू गोदी मीडिया के तमाम चैनलों पर गले फाड़-फाड़कर पूछेंगे कि "क्या अब इस देश में हिन्दू होना जुर्म है?" जी नहीं। लेकिन इस देश में मुसलमान होने को भाजपा निश्चित ही एक जुर्म बना रही है। नये संशोधनों के तहत वक़्फ़ सम्पत्तियों के विवादों का निपटारा करने का अधिकार वक़्फ़ ट्राइब्यूनल नहीं बल्कि ज़िले का कलेक्टर होगा। इस प्रकार केन्द्र में बैठी फ़ासिस्ट सरकार कलेक्टर के ज़रिये किसी भी वक़्फ़ सम्पत्ति को विवादित बताकर उसे हथिया सकती है।

नये संशोधनों में यह प्रावधान भी डाल दिया गया है कि कोई ग़ैर-मुस्लिम अपनी सम्पत्ति का दान वक़्फ़ सम्पत्ति के रूप में नहीं कर सकता है। इतिहास में ऐसी तमाम मिसालें हैं जिनमें ग़ैर-मुस्लिमों ने भी अपनी सम्पत्ति को वक़्फ़ सम्पत्ति के रूप में दान दिया है। अगर कोई हिन्दू अपनी मर्ज़ी से अपनी सम्पत्ति किसी क़ब्रिस्तान बनाने के लिए देना चाहे तो फिर ऐसे दान पर रोक लगाने का क्या तुक था? एक तरफ़ ग़ैर-मुस्लिमों को मुस्लिमों की धार्मिक सम्पत्ति के प्रबन्धन में शामिल किया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ़ ग़ैर-मुस्लिमों को अपनी सम्पत्ति वक़्फ़ सम्पत्ति के रूप में देने से रोका जा रहा है! इस दोगलेपन की जड़ भाजपा-संघ परिवार की मुस्लिम-द्वेषी फ़ासीवादी सोच में है।

फ़ासिस्टों ने अपनी मुस्लिम-द्वेषी सोच का मुजाहिरा वक़्फ़ क़ानून के एक अन्य प्रावधान में भी किया है जिसके तहत उन्होंने यह शर्त लगा दी है कि अगर कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति वक़्फ़ के रूप में देना चाहता है तो उसे कम से कम पाँच सालों तक इस्लाम पर आचरण करने वाला होना चाहिए। यह सरकार तय करेगी कि कोई व्यक्ति पाँच

(पेज 11 पर जारी)

वक़्फ़ क़ानून में नये संशोधनों पर मज़दूर वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए?

(पेज 10 से आगे)

सालों से इस्लाम पर आचरण कर रहा है या नहीं। जाहिरा तौर पर इस प्रावधान का इस्तेमाल करके किसी वक़्फ़ सम्पत्ति पर विवाद खड़ा किया जा सकता है। इसका मतलब यह भी है कि अगर कोई व्यक्तिअपना धर्म बदलकर इस्लाम कबूल करता है तो उसे अपनी सम्पत्ति वक़्फ के रूप में देने के लिए पाँच साल तक इन्तज़ार करना पड़ेगा। इस प्रकार इस्लाम धर्म में यक़ीन करने वाले लोगों पर चयनित रूप से बन्दिशें लगायी गयी हैं जिसका मक़सद उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता पर फ़ासिस्ट हमला करना है।

इसी प्रकार वक़्फ़ क़ानून से 'वक़्फ़ बाय यूज़र' के प्रावधान को हटाना भी भाजपा की घृणित साम्प्रदायिक फ़ासीवादी रणनीति का हिस्सा है। इस प्रावधान के तहत मस्जिद, इमामबाड़ा या कब्रिस्तान जैसी जगहें लम्बे समय से अपने इस्तेमाल की वजह से वक़्फ़ सम्पत्ति मानी जाती थीं, भले ही उन्हें प्रमाणित करने के लिए कोई दस्तावेज़ न हो। इस प्रावधान के हटने के बाद मुस्लिमों के तमाम धार्मिक स्थलों की वैधता को समाप्त किया जा सकता है और नये-नये विवाद खड़े किये जा सकते हैं। हाल के दिनों में हमने देखा है किस प्रकार संघ परिवार काशी, मथुरा, सम्भल और अजमेर में धर्म स्थानों के गड़े मुर्दे उखाड़ती आयी है। नये वक़्फ़ संशोधनों ने एक प्रकार से फ़ासिस्टों को किसी भी धार्मिक स्थल को विवादित बनाने की ख़ुली छूट दे दी गयी है। मुस्लिम ही नहीं अक्सर हिन्दू व अन्य धर्मों के धार्मिक स्थलों को वैध करार देने के लिए कोई दस्तावेज़ नहीं होता। परन्तु केवल मुसलमानों के धार्मिक स्थलों को वैधता हासिल करने के लिए कागज़ात दिखाने होंगे जो निहायत ही भेदभावपूर्ण है।

वक़्फ़ क़ानून में संशोधन का राजनीतिक सन्दर्भ

वक़्फ़ (संशोधन) विधेयक-2025 को आनन-फ़ानन में पारित कराना यह दिखाता है कि भाजपा और संघ परिवार अपनी घोर मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी रणनीति को एक नये स्तर पर ले जा रहे हैं। पिछले साल लोकसभा चुनावों में अपनी सीटों में हुई कटौती को देखकर उन्हें इतना समझ आ चुका है कि अगर समाज में लगातार नफ़रत का माहौल नहीं बना रहा तो यह मुमकिन है कि बढ़ती बेरोज़गारी, आसमान छूती मँहगाई और भीषण आर्थिक संकट की वजह से उन्हें सरकारी सत्ता से बाहर जाना पड़े। यही वजह है कि आये दिन नये-नये मुद्दे उछाले जा रहे हैं। कभी किसी मस्जिद का विवाद सामने आ जाता है, कभी नमाज़ का मुद्दा गरमा जाता है तो कभी किसी दरगाह का मुद्दा उछल जाता है। ईद, रमजान, होली और रामनवमी जैसे त्योहार भी इन फ़ासिस्टों के लिए अपनी साम्प्रदायिक रोटियाँ सेंकने के मौक़े बन चुके हैं।

जहाँ एक ओर हिन्दुत्व फ़ासिस्टों की गुण्डावाहिनियाँ मुस्लिमों के धार्मिक स्थलों और उनके त्योहारों पर निशाना साधते हुए समाज में लगातार साम्प्रदायिक तनाव का माहौल बना रही हैं, वहीं दूसरी ओर फ़ासिस्ट मोदी सरकार औपचारिक तौर पर उनके अधिकारों को छीनकर उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक बनाने के अपने विचारधारात्मक लक्ष्य पर बेरोकटोक ढंग से आगे बढ़ रही है। इसी के ज़रिये समाज में साम्प्रदायिकीकरण की अपनी जारी साज़िश को भी संघ परिवार आगे बढ़ाने की फ़िराक़ में है। 2024 के लोकसभा चुनावों में भाजपा का 'अबकी बार 400 पार' का नारा एक चुटकुला बन गया था और वह 240 सीटों पर सिमट गयी थी। निश्चित तौर पर यह चुनावी नतीजा अपने आप में फ़ासीवादी ख़तरे के कम होने का लक्षण नहीं था। लेकिन भाजपा को निश्चित तौर पर इससे तात्कालिक झटका लगा था। इसके बाद से ही संघ परिवार ने देश में साम्प्रदायिक उन्माद की लहर को नये सिरे से बढ़ाने और व्यापक आबादी के व्यवस्थित साम्प्रदायिकीकरण की तैयारियाँ कर ली थीं। महाकुम्भ से लेकर ईद तक, संभल से अजमेर तक, छावा जैसी फ़ासीवादी प्रोपगैण्डा फिल्मों की बाढ़ से लेकर सोशल मीडिया पर फ़ेक न्यूज़ की नयी लहर तक, इसी मंसूबे को असलियत में उतारने का हिस्सा है। वक़्फ़ क़ानून में किये गये संशोधन इसी फ़ासिस्ट साज़िश का अगला क़दम है।

धार्मिक व धर्मार्थ सम्पत्तियों के प्रति मज़दूर वर्ग का नज़रिया

वक़्फ़ क़ानून में किये जा रहे संशोधनों का विरोध कर रहे तमाम संगठन व बुद्धिजीवी धार्मिक व धर्मार्थ सम्पत्तियों के प्रशासन में राज्य की दख़ल का निरपेक्ष ढंग से विरोध कर रहे हैं और उसे अपने आप में धार्मिक स्वतन्त्रता के ख़िलाफ़ बता रहे हैं। परन्तु मज़दूर वर्ग ऐसी सम्पत्तियों की जाँच-पड़ताल, उनकी निगरानी, उनका पारदर्शी ऑडिट, उनके दस्तावेज़ों का कम्प्यूटरीकरण, उनके मसलों को राजकीय विनियमन के मातहत लाने, ऐसी संस्थाओं की समितियों में सभी धर्मों के लोगों को शामिल किये जाने का अपने आप में विरोध नहीं करता बशर्ते कि ऐसा सभी धर्मों की संस्थाओं में एकसमान रूप से किया जाये। लेकिन इस प्रकार के राजकीय/सरकारी विनियमन के दायरे में अगर सभी धर्मों व उनकी संस्थाओं को नहीं लाया जाता है, तो यह निश्चित ही एक विशिष्ट धर्म व उसके लोगों के अधिकारों पर हमला है, उनके साथ भेदभावपूर्ण हरकत है, उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक बनाने की साज़िश है। एक सही मायने में सेक्युलर राज्य निश्चय ही जनवादी व समानतामूलक तरीक़े से धार्मिक संस्थाओं व उनके मसलों के राजकीय विनिमयन का प्रावधान कर सकता है, लेकिन ऐसा प्रावधान बिना भेदभाव सभी धर्मों पर लागू हो तो ही वह सही मायने में सेक्युलर व जनवादी माना जायेगा। ठीक इसी वजह से भाजपा सरकार द्वारा वक़्फ़ क़ानून में किया गया संशोधन वास्तव में एक जनवादी व सेक्युलर नहीं, बल्कि एक फ़ासीवादी साम्प्रदायिक क़दम है जिसका मक़सद है हमारे देश में लगातार साम्प्रदायिक उन्माद के माहौल को बनाये रखना और साथ ही मुसलमान आबादी को दोयम दर्जे के नागरिकों में तब्दील करना। इसलिए मज़दूर वर्ग को इन संशोधनों का पुरज़ोर विरोध करना चाहिए। इसके निशाने पर सिर्फ़ मुसलमान अल्पसंख्यक आबादी ही नहीं आयेगी, बल्कि आम तौर पर मेहनतकश व आम मध्यवर्गीय आबादी आयेगी क्योंकि इससे जो साम्प्रदायिकीकरण होगा, उसका ख़ामियाज़ा देश की आम जनता को ही भुगतना पड़ेगा। इसलिए इस फ़ासिस्ट साज़िश के ख़िलाफ़ सभी धर्मों के मेहनतकशों का एकजुट करना आज की ज़रूरत है।

साम्प्रदायिक फ़ासीवादी दौर में घटता जनवादी स्पेस व बढ़ते छात्र-युवा आन्दोलन

(पेज 9 से आगे)

दिया। फिर भी, छात्रों ने हार नहीं मानी और एफआईआर दर्ज करवाकर ही दम लिया। यह कोई अकेली घटना नहीं है। टीएमसी का यह दमनकारी चरित्र पहले भी देखा गया है—2017 में जादवपुर विश्वविद्यालय के छात्रसंघ चुनावों में हिंसा भड़काने से लेकर 2022 में कल्याणी विश्वविद्यालय के छात्र आन्दोलन को बर्बरता से कुचलने तक। ऐसे में जो लिबरल लोकसभा चुनाव में बंगाल में टीएमसी की जीत पर कुलाचे मार रहे थे , वो अक्सर टीएमसी के इन क्रूर फ़ासीवादी चरित्र पर आँखें मूँद कर बैठ जाते है।

केआईआईटी में छात्र आन्दोलन: नस्लवाद, पितृसत्ता और प्रशासनिक उदासीनता

कलिंगा इन्स्टीट्यूट ऑफ़ इण्डस्ट्रियल टेक्नोलॉजी (KIIT), भुवनेश्वर के प्रशासन पर नस्लवादी, पितृसत्तात्मक और उदासीन रवैया अपनाने का आरोप लगा है। यह मामला संस्थान में पढ़ रही एक नेपाली छात्रा, प्रकृति लामसाल, की कथित आत्महत्या और प्रशासन के असंवेदनशील व्यवहार से जुड़ा है। प्रकृति, बी.टेक तृतीय वर्ष की छात्रा थी, जो 16 फरवरी को अपने छात्रावास के कमरे में मृत पाई गई। जाँच में पता चला कि उसी संस्थान के 21 वर्षीय मैकेनिकल इंजीनियरिंग छात्र, अद्विक श्रीवास्तव, ने उसे शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित किया था। चिन्ताजनक बात यह है कि प्रकृति ने पहले ही केआईआईटी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कार्यालय में अपने साथ हो रहे दुर्व्यवहार की शिकायत दर्ज कराई थी, लेकिन प्रशासन ने कोई कार्रवाई नहीं की। यदि प्रशासन ने समय रहते जिम्मेदारी से काम लिया होता, तो शायद यह त्रासदी टाली जा सकती थी। हालाँकि पुलिस ने आत्महत्या केस दर्ज कर मुख्य आरोपी को गिरफ्तार कर लिया है, लेकिन मौत के आसपास की परिस्थितियाँ और प्रशासन की प्रतिक्रिया गम्भीर सवाल खड़े करती हैं। प्रकृति की मृत्यु के बाद, केआईआईटी के नेपाली छात्रों ने विरोध प्रदर्शन किया और निष्पक्ष जाँच तथा जवाबदेही की माँग की। छात्रों ने आरोप लगाया कि प्रशासन ने प्रकृति की गुहार को नज़रअन्दाज़ किया। विरोध के जवाब में, प्रशासन ने नस्लवादी टिप्पणियाँ और धमकियाँ दीं। एक वायरल वीडियो में एक वरिष्ठ अधिकारी कहता सुनाई देता है: "इस विश्वविद्यालय के संस्थापक का अपमान न करें। वह 40,000 छात्रों को मुफ्त भोजन देते हैं। यह रक़म आपके देश के पूरे बजट से भी अधिक होगी।"

प्रशासन की प्रतिक्रिया केवल मौखिक दुर्व्यवहार तक सीमित नहीं रहा। केआईआईटी में पढ़ रहे लगभग 1,000 नेपाली छात्रों में से सैकड़ों को जबरन परिसर से निकाल दिया गया। वीडियो सामने आए हैं, जिनमें छात्रों को बसों में भरकर कटक रेलवे स्टेशन छोड़ दिया गया। कई के पास वापसी का टिकट या पैसा तक नहीं था। समाज में फैले नस्लवाद, जातिवाद और अन्य पूर्वाग्रहों से विश्वविद्यालय भी अछूता नहीं है—जबकि इसे तथाकथित 'पढ़ी-लिखी' आबादी का केन्द्र माना जाता है। हमारी व्यापक एकता का निर्माण इन सवालों को नज़रअन्दाज़ करके नहीं किया जा सकता।

प्रतिस्पर्धा परीक्षाओं में धाँधली को लेकर छात्र आन्दोलन

बिहार के पटना में BPSC परीक्षा की तैयारी कर रहे सोनू नाम के एक छात्र ने आत्महत्या कर ली क्योंकि वह BPSC परीक्षा में धाँधली की ख़बरों के बाद से ही वह काफ़ी परेशान था और अन्ततः उसने यह कदम उठाया। ग़ौरतलब है कि आत्महत्या के कुछ दिन पहले ही BPSC परीक्षा में सामान्यीकरण (Normalization) की प्रक्रिया के ख़िलाफ़ छात्रों ने बड़े पैमाने पर सड़कों पर प्रदर्शन किया था। प्रशासन ने लाठी-डण्डों के ज़रिए आन्दोलन को कुचलने की कोशिश की, लेकिन छात्रों के संघर्ष के आगे सरकार को झुकना पड़ा और उनकी माँगें मान ली गयी थी। हालाँकि, परीक्षा के बाद पटना के बापू परीक्षा केन्द्र पर छात्रों ने पेपर लीक होने का आरोप लगाया। छात्रों के भारी विरोध के बाद बिहार लोक सेवा आयोग ने इस केन्द्र पर 12 हज़ार अभ्यर्थियों के लिए परीक्षा दोबारा कराने का आदेश दिया। लेकिन छात्रों का कहना है कि यह सीधा भेदभाव है—अगर पेपर लीक हुआ है तो पूरी परीक्षा ही रद्द करके नए सिरे से आयोजित की जानी चाहिए। सरकार और लोक सेवा आयोग इस माँग को मानने को तैयार नहीं था, जिसके चलते छात्र एक बार फिर सड़कों पर उतर आए हैं। बिहार की जदयू-भाजपा सरकार ने छात्रों के इस शान्तिपूर्ण आन्दोलन को बर्बरता से दबाने का ही काम किया।

ऐसे में यह समझने की ज़रुरत है कि स्पर्धा परीक्षाओं में अनियमितताओं और धाँधली को लेकर छात्रों का गुस्सा लगातार सड़कों पर फूट रहा है। NEET, BPSC, RO/ARO जैसी परीक्षाओं में गड़बड़ियों के ख़िलाफ़ देशभर में प्रदर्शन हुए हैं, और लगभग हर स्पर्धा परीक्षा में धाँधली की ख़बरें सामने आ रही हैं। देशभर के युवा स्वतःस्फूर्त ढंग से इन आन्दोलनों से जुड़ रहे हैं, लेकिन अभी तक यह विरोध बिखरी हुई तात्कालिक माँगों तक ही सीमित रहा है। इसे एक संगठित, दूरगामी और व्यापक आन्दोलन का रूप देने में अभी सफलता नहीं मिली है।

निष्कर्ष : संघर्ष का रास्ता

निश्चित तौर पर छात्र-युवा आन्दोलन भी अपनी कमियों और खामियों से अछूता नहीं है। मगर आज छात्रों को विराजनीतिकरण के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए कैम्पस से बाहर भी निकलना होगा और आम मेहनतकश जनता के साथ मिलकर जनविरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी होगी। साथ ही, आम मेहनतकश जनता को भी जनवादी अधिकारों पर हो रहे हमलों के ख़िलाफ़ खड़ा होना होगा, जिसमें छात्र- युवा आन्दोलन के सही माँगो के साथ खड़ा होना भी शामिल है।

आज दुनिया भर में जनता की फौलादी एकजुटता जिसमें छात्र-युवा और आम मेहनतकश जनता शामिल है—श्रीलंका से लेकर बांग्लादेश और बेलग्रेड की सड़कों तक, फिलिस्तीन के मुक्ति संघर्ष से जुड़े दुनियाभर के प्रदर्शनों तक—अपना लोहा मनवा रही है। फिर क्या हम इस संघर्ष में पीछे रहेंगे?

देशभर में जारी है ‘बीडीएस’ अभियान

इज़रायली हत्यारों से सम्बन्ध रखने वाली कम्पनियों व ब्राण्डों के उत्पादों का लोग कर रहे हैं बहिष्कार!

● बिगुल संवाददाता

यह रिपोर्ट लिखे जाने तक फ़िलिस्तीन में इज़रायली बस्तीवादियों द्वारा भयंकर क़त्लेआम जारी है। फ़िलिस्तीन की ग़ज़ा पट्टी को मलबे में तब्दील कर दिया गया है। वेस्ट बैंक के तमाम इलाक़ों में भी इज़रायली सैनिक और ज़ायनवादी गुण्डा गिरोह आये दिन हमले कर रहे हैं। फ़िलिस्तीन के बहादुर योद्धाओं द्वारा किये गये 7 अक्तूबर 2023 के जुझारू प्रतिरोध के बाद से ज़ायनवादियों ने पचास हज़ार से ज़्यादा फ़िलिस्तीनियों को मौत के घाट उतार दिया है। मरने वालों में तक़रीबन 70 प्रतिशत संख्या महिलाओं और बच्चों की है। इसके अलावा लाखों जन घायल हैं और कई हज़ार लोग गायब हैं। फ़िलिस्तीन पर यह हमला कोई नया नहीं है। फिलिस्तीन की जनता 1948 से ही इज़रायली कब्ज़े और इसके द्वारा अंजाम दिये जा रहे एक भीषण जनसंहार की चपेट में है। हम भारतीय जन जिन्होंने तक़रीबन 200 वर्ष तक औपनिवेशिक ग़ुलामी झेली है वे इस ग़ुलामी के दर्द को और आज़ादी की क़ीमत को अच्छी तरह से समझ सकते हैं।

अपने निर्माण के साथ ही इज़रायली सेटलर औपनिवेशिक राज्य ने फ़िलिस्तीनी क़ौम को ख़ून की नदी में डुबोने की कोशिश में कोई कसर नहीं छोड़ी है। असल में इज़रायल कोई देश नहीं है बल्कि एक जारी औपनिवेशिक परियोजना है जिसका अस्तित्व ही फ़िलिस्तीनी राष्ट्र की क़ीमत पर क़ायम हुआ है। इस सेटलर बस्ती ने पहले ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शह पर और उसके बाद अमरीकी साम्राज्यवाद की मदद के दम पर फ़िलिस्तीनी कौम पर एक भीषण युद्ध थोप रखा है। इज़राइल का काम मध्यपूर्व में अमरीकी सैन्य चौकी का काम करना है और उसके आर्थिक और राजनीतिक हितों की सुरक्षा करना है। जहाँ दमन होता है वहाँ प्रतिरोध का होना भी अवश्यम्भावी होता है। इज़रायल द्वारा अपने लोगों की नस्लकुशी को फ़िलिस्तीन के बहादुर लोग गर्दन झुकाकर सहन करने के लिए तैयार नहीं हैं। याद रखें, फ़िलिस्तीनी राष्ट्र का अर्थ सिर्फ़ मुसलमान नहीं हैं। हालाँकि ऐसा होता तो भी हर इन्साफ़पसन्द मेहनतकश, नौजवान और नागरिक उनके इज़रायली हत्यारों द्वारा नरसंहार का विरोध ही करता। लेकिन फ़िलिस्तीनी राष्ट्र में मुसलमानों के साथ अरबी यहूदी, अरबी ईसाई व बद्दू कबीलों के लोग भी शामिल हैं। दूसरी बात, अकेले हमास ही उनकी राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई को नेतृत्व देने वाला संगठन नहीं है बल्कि पी.एफ.एल.पी. जैसे संगठन भी हैं, जो विचारधारा से सेक्युलर हैं। ऊपर से हमास भी अब एक सेक्युलर फ़िलिस्तीनी राज्य की स्थापना को अपना लक्ष्य मानता है, हालाँकि उसकी अपनी सांगठनिक विचारधारा इस्लामी विचारधारा है। लेकिन फ़िलिस्तीन के लोग हमास के अस्तित्व में आने से पहले भी अपनी

राष्ट्रीय आज़ादी के लिए लड़ते हैं और कल हमास न रहे, तो भी लड़ते रहेंगे। जो भी ताक़त इस लड़ाई की अगुवाई करने को तैयार होगी, फ़िलिस्तीन की जनता उससे विचारधारा के स्तर पर सहमत हो या असहमत हो, उसका साथ देगी क्योंकि उनके लिए सबसे पहला सवाल है अपने राष्ट्र की औपनिवेशिक ग़ुलामी से आज़ादी। आज़ादी और न्याय की ख़ातिर फ़िलिस्तीनियों का प्रतिरोध हिम्मत, जज़्बे, बहादुरी और जिजीविषा के नये-नये कीर्तिमान स्थापित कर रहा है।

अरब देशों ही नहीं बल्कि दुनिया भर के इन्साफ़पसन्द लोग फ़िलिस्तीनी कौम के साथ गहरी हमदर्दी रखते हैं। तमाम देशों के जनद्रोही शासक वर्ग भले ही कहीं खुले तो कहीं छुपे तौर पर इज़रायल नामक हत्यारे औपनिवेशिक सेटलमेण्ट के साथ हाथ मिला रहे हों लेकिन सभी महाद्वीपों के तमाम देशों के आम लोग फ़िलिस्तीनियों के समर्थन में लाखों-करोड़ों की तादाद में सड़कों पर उतर रहे हैं।

लोगों ने ज़ायनवादी इज़रायल के विरोध का एक और तरीक़ा भी ईज़ाद किया है। यह है ‘बीडीएस अभियान’। इस अभियान का मतलब है बी यानी बॉयकोट (बहिष्कार), डी यानी डाइवेस्टमेण्ट (विनिवेश) और एस यानी सैंक्शन (प्रतिबन्ध)। ‘बीडीएस’ अभियान’ के तहत दुनियाभर की इन्साफ़पसन्द जनता के सामने इज़रायली ज़ायनवादियों के मालिकाने वाली और इज़रायल में निवेश करने वाली और उनके नरसंहार का वित्तपोषण करने वाली कम्पनियों/ब्राण्डों के उत्पादों के पूर्ण बहिष्कार का आह्वान किया जा रहा है। साम्राज्यवादी मदद से इतर इज़रायल इन्हीं कम्पनियों के पैसे की मदद से ही फ़िलिस्तीन में क़त्लेआम जारी रखे हुए है। इसीलिए इनका बहिष्कार ज़रूरी है। ‘बीडीएस’ मुहिम के तहत इज़रायली ज़ायनवादी बुद्धिजीवियों, लेखकों, कलाकारों, अकादमिकों, फ़िल्मों आदि का भी बहिष्कार किया जा रहा है।

‘बीडीएस’ अभियान’ के तहत भारत के विभिन्न शहरों में प्रदर्शन और अभियान लगातार जारी हैं। ‘फ़िलिस्तीन के साथ एकजुट भारतीय जन’ (इण्डियन पीपल इन सोलिडेरिटी विद पैलेस्टाइन) के बैनर तले विभिन्न जन संगठन ‘बीडीएस’ अभियान को आगे बढ़ा रहे हैं। दिल्ली, उत्तरप्रदेश, उत्तराखण्ड, आन्ध्रप्रदेश, तेलंगाना, महाराष्ट्र, बिहार, राजस्थान, हरियाणा समेत देश भर में ‘बीडीएस’ अभियान जारी है। इसके तहत इज़रायली ज़ायनवादीयों द्वारा जारी जनसंहार के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन किये जा रहे हैं और जनता से ‘बीडीएस’ अभियान के साथ जुड़कर इज़रायली ज़ायनवादियों के हर रूप में पूर्ण बहिष्कार करने के लिए आग्रह किया जा रहा है। इस दौरान व्यापक स्तर पर पर्चा वितरण भी किया जाता है ताकि लोग फ़िलिस्तीन-इज़रायल मामले की पूरी सच्चाई को जान सकें।

‘बीडीएस’ अभियान के तहत देश की राजधानी दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन का आयोजन किया गया। इस प्रदर्शन में भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) के साथ नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन शामिल थे। दिल्ली के खजूरी इलाक़े की श्री राम कॉलोनी में ‘बीडीएस’ अभियान चलाया गया और पर्चा वितरण किया गया। दिल्ली विश्वविद्यालय और जामिया मिलिया इसलामिया विश्वविद्यालय में भी ‘बीडीएस’ अभियान जारी है। उत्तराखण्ड के सीमावर्ती क्षेत्र नांगल इलाक़े में ‘बीडीएस’ अभियान के तहत नुक्कड़ सभाओं का आयोजन किया गया। हरिद्वार की मज़दूर बस्ती में नुक्कड़ सभाओं के साथ पर्चा वितरण किया गया और जनता से ज़ायनवादी इज़रायल के बहिष्कार का आह्वान किया गया। आन्ध्र प्रदेश के विशाखापटनम में प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स लीग द्वारा स्ट्रीट आर्ट के साथ पर्चा वितरण करते हुए विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया जा चुका है। बिहार की राजधानी पटना में सब्ज़ीबाग व गोंसाई टोला जैसे इलाकों में नुक्कड़ सभाएँ व पर्चा वितरण के साथ ‘बीडीएस’ अभियान चलाया गया। तेलंगाना के हैदराबाद में अशोक नगर, भगत सिंह नगर आदि में तथा यहाँ की प्रख्यात ओसमानिया यूनिवर्सिटी में ‘बीडीएस’ अभियान चलाया गया। महाराष्ट्र के पुणे में फ़िलिस्तीन के ऊपर ज़ायनवादी हमले के विरोध में प्रदर्शन किया गया। महाराष्ट्र के पुणे, मुम्बई और अहमदनगर के विभिन्न रिहयशी इलाक़ों में ‘बीडीएस’ अभियान लगातार जारी है। उत्तर प्रदेश के लखनऊ, गोरखपुर, इलाहाबाद, गोरखपुर, बनारस, अम्बेडकर नगर, मथुरा आदि के विभिन्न स्थानों पर नुक्कड़ सभाओं, पर्चा वितरण और घर-घर अभियान के रूप में ‘बीडीएस’ कैम्पेन लगातार जारी है। राजस्थान के जयपुर में पर्चा वितरण और घर-घर अभियान के रूप में अभियान लगातार जारी है। इसके अलावा हरियाणा, पंजाब, चण्डीगढ़, बंगाल, केरल आदि में भी अगल-अलग रूपों में ‘बीडीएस’ अभियान लगातार जारी है।

फ़िलिस्तीन के प्रति एकजुटता दर्शाने के लिए ‘बीडीएस’ नामक यह अभियान दुनिया भर में तेज़ी से फ़ैल रहा है। ‘बीडीएस’ अभियान का ही प्रभाव है कि कई देशों में इज़रायल की समर्थक कम्पनियों/ब्राण्डों की दुकानें बन्द हो चुकी हैं। कुछ देशों में तो फ़िलिस्तीन पर हमले की समर्थक कई कम्पनियाँ दिवालिया तक हो चुकी हैं। इज़रायली सेटेलमेण्ट की समर्थक स्टारबर्क्स नामक कॉफी कम्पनी की मलेशिया में कम से कम 50 दुकाने (आउटलेट) बन्द हो चुकी हैं। मध्यपूर्व के देशों में यही कम्पनी काम की कमी के चलते हज़ारों कर्मचारियों की छँटनी कर चुकी है। तुर्की में मैकडोनाल्ड नामक इज़रायल समर्थक कम्पनी दिवालिया हो चुकी है और मिश्र में इसकी बिक्री 70 प्रतिशत तक गिर चुकी है। एक सर्वे के अनुसार जॉर्डन नामक देश के 93 प्रतिशत लोगों ने ‘बीडीएस’ मुहिम हो अपना समर्थन दिया है। तमाम अरब देशों के साथ दुनिया के अलग-अलग देशों में ‘बीडीएस’ मुहिम के असर देखने को मिल रहे हैं। हमें यह याद रखना होगा कि दक्षिण अफ़्रीका से नस्लभेदी औपनिवेशिक सत्ता के पाँव उखाड़ने में ऐसी बहिष्कार मुहिमों ने अहम भूमिका अदा की थी। निश्चय ही इज़रायल नामक ज़ायनवादी सेटलर कॉलोनी की उल्टी गिनती शुरू कराने में ‘बीडीएस’ अभियान का भी ख़ास योगदान होगा। ‘बीडीएस’ अभियान’ फ़िलिस्तीन के समर्थन और ज़ायनवादी इज़रायल के खिलाफ़ हमें सक्रिय रूप से कुछ करने का मौक़ा देता है। भारत के इनसाफ़पसन्द लोगों को न्याय और आज़ादी की ख़ातिर लड़ने वाले अपने फ़िलिस्तीनी भाइयों के समर्थन में ‘बीडीएस’ मुहिम में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना चाहिए।

चित्र : ऊपर - दिल्ली, बीच में (ऊपर बायें - लखनऊ, दायें - विशाखापत्तनम, नीचे बायें - पटना, दायें - उत्तराखण्ड), नीचे - बायें - पुणे, दायें - दिल्ली

भारत की मेहनतकश जनता को फ़िलिस्तीन की जनता का साथ क्यों देना चाहिए?

(पेज 1 से आगे)

इन यूरोपीय साम्राज्यवादियों व यहूदी नस्लवादी कट्टरपन्थी संगठनों को अपने नापाक मंसूबों को अमली जामा पहनाने का एक मौक़ा मिल गया। यहूदी नस्लवादी कट्टरपन्थी संगठनों को ही ज़ायनवादी संगठन कहा जाता है। कहने के लिए इनकी यह विचारधारा होती है कि यहूदी "ईश्वर द्वारा चुनी गयी" नस्ल या क़ौम हैं और इसलिए वे अन्य नस्लों से श्रेष्ठ हैं। लेकिन असल में इस कट्टरपन्थी विचारधारा के पीछे यूरोप के यहूदी पूँजीपति वर्ग और उसके पिछलग्गू टुटपुँजिया वर्ग के एक हिस्से के साम्राज्यवादी व नस्लवादी मंसूबे थे। ये ज़ायनवादी संगठन यहूदी पूँजीपतियों के वर्ग के ही एक विचारणीय हिस्से की नुमाइन्दगी करते थे और इन्होंने न सिर्फ़ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ रिश्ते बनाये, बल्कि यूरोप में यहूदियों का नरसंहार करने वाले हिटलर और नात्सियों से भी इनके घिनौने रिश्ते थे।

ज़ायनवादी अपने आपको समूचे यहूदियों का उसी प्रकार नुमाइन्दा बताते हैं जैसे कि साम्प्रदायिक फ़ासीवादी हमारे देश में अपने आपको सभी हिन्दुओं का अकेला प्रवक्ता और प्रतिनिधि बताते हैं। दोनों के ही दावों में रत्ती भर दम नहीं है। दुनिया भर में यहूदियों का बड़ा हिस्सा अपने आपको ज़ायनवाद के विरोध में बताता है और फ़िलिस्तीनी जनता के साथ एकजुटता और हमदर्दी ज़ाहिर करता है। वह समझता है कि ज़ायनवादी इज़रायली सेटलर औपनिवेशिक राज्य वास्तव में कोई देश या कोई राष्ट्र है ही नहीं, क्योंकि यहूदी किसी एक क़ौम का निर्माण करते ही नहीं हैं। वे अलग-अलग देशों में अलग-अलग राष्ट्रों का हिस्सा हैं। पोलैण्ड का यहूदी पोलिश भाषा, संस्कृति व सभ्यता में रचा-बचा है, फ़्रांसीसी यहूदी फ़्रांसीसी भाषा को अपनी मातृभाषा मानता है और फ़्रांसीसी संस्कृति को अपने जीवन का अंग मानता है, ब्रिटिश यहूदी ब्रिटिश भाषाभाषी है और उस देश के इतिहास और संस्कृति का ही अभिन्न अंग है। दुनिया के सभी सेक्युलर, जनवादी यहूदी इस बात को जानते हैं। वे समझते हैं कि ज़ायनवाद यहूदी कट्टरपन्थी नस्लवाद और पश्चिमी साम्राज्यवाद की खोटी औलाद है। यही कारण था कि जब यूरोपीय साम्राज्यवादी व नस्लवादी यहूदियों ने ब्रिटेन व पश्चिमी साम्राज्यवाद की सहायता से फ़िलिस्तीन में मूल अरबी मुसलमानों, यहूदियों, ईसाइयों आदि का, यानी फ़िलिस्तीनी क़ौम का बड़े पैमाने पर नरसंहार व विस्थापन कर कब्ज़ा करना, और अपनी साम्राज्यवादी बस्ती स्थापित करना शुरू किया, तो इन कट्टरपन्थी यहूदियों ने अपने नाम तक बदले, हीब्रू भाषा को सीखा और बाक़ियों पर आरोपित किया ताकि एक नयी क़ौमी पहचान बनायी जा सके। लेकिन आज तक यह पहचान बन नहीं पायी है और आज भी इज़रायली सेटलर राज्य के ज़्यादातर यहूदी निवासी अपने मूल देश की नागरिकता, मसलन, पोलैण्ड, फ़्रांस, यूक्रेन, रूस, अमेरिका आदि की नागरिकता व पासपोर्ट भी क़ायम रखे हैं। मिसाल के तौर पर, इज़रायल के हत्यारे बेन्यामिन नेतन्याहू का असली नाम है बेंज़ियन मिलाईकोव्स्की, जिसे सुनकर ही उसके पोलिश या पूर्वी यूरोपीय मूल का पता चल जाता है।

ज़ायनवाद यानी कट्टरपन्थी यहूदी नस्लवाद व फ़ासीवाद और पश्चिमी साम्राज्यवाद की दख़लन्दाज़ी और कब्ज़े के पहले से ही फ़िलिस्तीन में एक फ़िलिस्तीनी क़ौम रह रही थी। इस क़ौम में सिर्फ़ मुसलमान ही नहीं शामिल थे, बल्कि अरबी मुसलमान, अरबी यहूदी, अरबी ईसाई व अरबी बद्दू क़बीलों तक के लोग शामिल थे। जब ज़ायनवाद और पश्चिमी साम्राज्यवाद के घिनौने गठजोड़ ने 1920 से 1940 के दशक के बीच धीरे-धीरे वहाँ यूरोपीय यहूदियों की बस्तियाँ बसानीं और फ़िलिस्तीनी जनता के गाँव उजाड़ने शुरू किये और जब 1948 में उन्होंने एक भयंकर नरसंहार और विस्थापन को अंजाम देकर फ़िलिस्तीन से फ़िलिस्तीनियों को ही लाखों की तादाद में मार डाला और विस्थापित कर दिया, तब से फ़िलिस्तीनी राष्ट्र इन जबरन क़ब्ज़ा करने वाले यूरोपीय साम्राज्यवादियों और ज़ायनवादियों के ख़िलाफ़ लड़ रहा है और इसमें मुसलमान, यहूदी, ईसाई सभी शामिल हैं।

जैसे ही आप फ़िलिस्तीन के इतिहास पर निगाह डालते हैं वैसे ही आप समझ जाते हैं कि फ़िलिस्तीन और पश्चिमी साम्राज्यवादियों के फेंके हुए टुकड़ों पर पल रहे इज़रायली ज़ायनवादी सेटलर औपनिवेशिक राज्य के बीच क़रीब आठ दशकों से जारी संघर्ष का मज़हबी लड़ाई, मुसलमानों और यहूदियों के बीच लड़ाई से कोई लेना-देना नहीं है। इस संघर्ष के नेतृत्व में कभी पूरी तरह से सेक्युलर विचारधारा वाले लोग थे, कभी वामपन्थी लोग थे, कभी इस्लामिक विचारधारा मानने वाले लोग थे और कल किसी और प्रकार के लोग हो सकते हैं। लेकिन यह संघर्ष अपने आप में मुसलमानों का मसला है ही नहीं। यह शुरू से ही फ़िलिस्तीनी क़ौम का मसला रहा है, जिसे उसकी ज़मीन पर ही दफ़्न किया जा रहा है, मारा जा रहा है, वहाँ से बेदख़ल किया जा रहा है और उनके राष्ट्र के साथ साम्राज्यवादियों और ज़ायनवादियों का यह अत्याचार आठ दशकों से भी ज़्यादा समय से जारी है। इसलिए फ़िलिस्तीनी क़ौम अपनी आज़ादी के लिए लड़ रही है। जो संगठन या पार्टी इस लड़ाई को नेतृत्व देने को तैयार होते हैं, फ़िलिस्तीनी क़ौम उनके साथ खड़ी होती है, लेकिन यह लड़ाई किसी एक संगठन या पार्टी की लड़ाई नहीं है। ग़ुलाम बना दी गयी क़ौम किसी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट या प्रगतिशील नेतृत्व के पैदा होने तक अपनी आज़ादी की लड़ाई को स्थगित नहीं कर देती है। जो लड़ने को तैयार होता है, उनके संघर्ष को नेतृत्व देने को तैयार होता है, उससे विचारधारात्मक तौर पर सहमत या असहमत हुए बिना भी वह उसके साथ खड़ी होती है। यह फ़िलिस्तीनी क़ौम की आज़ादी की लड़ाई है, जिसका मज़हबी मसले से कोई लेना-देना नहीं है। इसका अपने आप में मुसलमानों और यहूदियों से कोई लेना-देना नहीं है।

यह बात हम आम मेहनतकश लोगों को अपने दिमाग़ में अच्छे से बिठा लेनी चाहिए क्योंकि हमारे देश के साम्प्रदायिक फ़ासीवादी हमारे देश में साम्प्रदायिकता की आग को भड़काने और उसका फ़ायदा उठाने के लिए फ़िलिस्तीन के मसले के बारे में ये झूठ फैलाते रहते हैं।

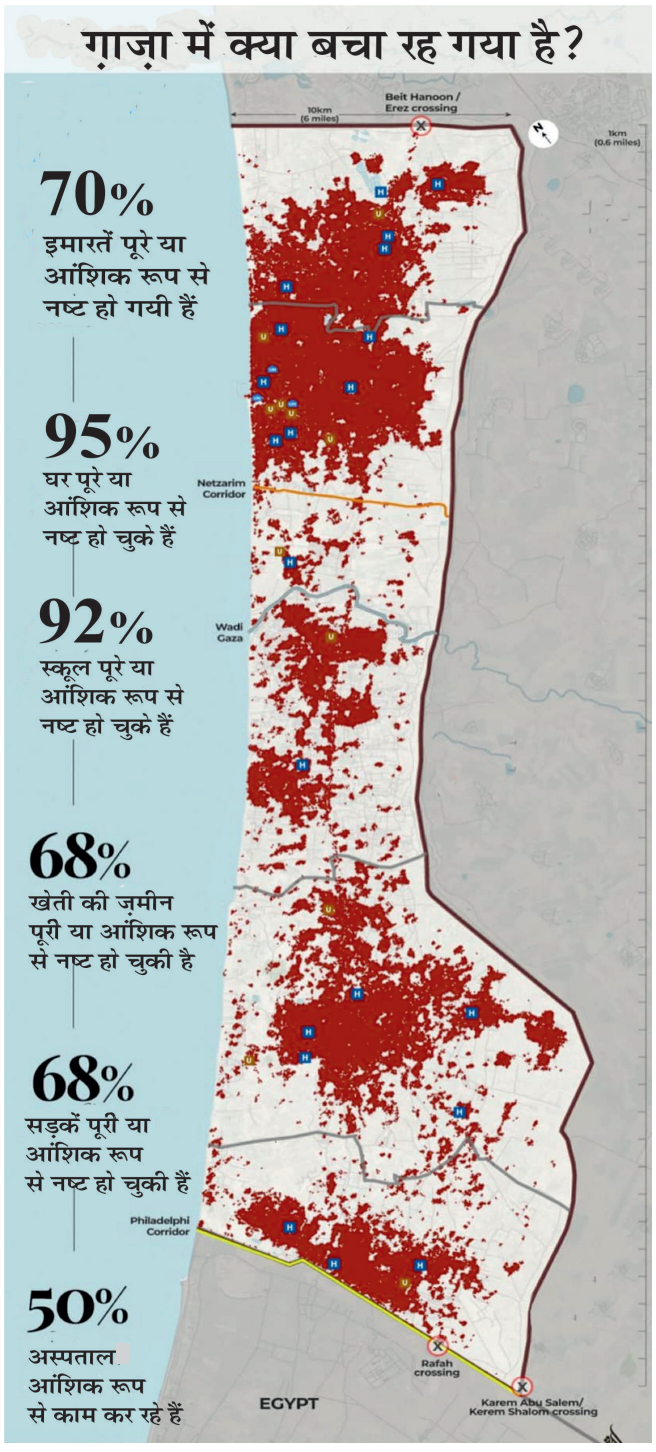

फ़िलिस्तीन का मसला आतंक या आतंकवाद का मसला नहीं है

आज 'आतंकवाद' शब्द का वास्तव में कोई विशिष्ट अर्थ नहीं रह गया है। यह एक ऐसा ख़ाली बर्तन है जिसे हर देश के हुक़्मरान किसी भी चीज़ से भर देते हैं। जो भी आन्दोलन या जनप्रतिरोध उन्हें आतंकित करता है, वे उसे "आतंकवादी" क़रार दे देते हैं। यहाँ तक कि हम मज़दूर व मेहनतकश भी जब अपने हक़ों के लिए लड़ते हैं, हड़ताल करते हैं, धरने देते हैं, रैलियाँ निकालते हैं तो हमें भी पूँजीपति वर्ग और उसकी सरकार व राज्यसत्ता आतंकवादी क़रार देती है और ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ताओं और मज़दूरों तक पर आतंकवाद निरोधक क़ानून की धाराएँ लगा दी जाती हैं। हमारे ही देश में आज़ादी से पहले आज़ादी के लिए लड़ने वाले महान क्रान्तिकारियों जैसे शहीदे-आज़म भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरू, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाकुल्ला ख़ाँ, आदि को भी अंग्रेज़ी औपनिवेशिक सरकार ने आतंकवादी क़रार दिया था। यह शासक वर्गों की पुरानी तरक़ीब रही है कि अपने मीडिया और भोंपुओं के लिए ज़रिये जनता के पक्ष में खड़े होने वाले बहादुर लोगों को जनता के ही सामने आतंकवादी क़रार दे दिया जाय। जबकि सही मायने में आतंकवादी तो पूँजीपति वर्ग का राज्य है जो रोज़मर्रा जनता को प्रताड़ित करता है, आतंकित करता है। यह हम नहीं कहते, स्वयं भारतीय न्यायपालिका के एक न्यायाधीश ने कहा था कि भारत में सबसे संगठित गुण्डा-फ़ोर्स भारतीय पुलिस है और अक्सर ही वर्दी पहने आतंकियों की भूमिका में नज़र आती है। इसलिए हम मज़दूरों को यह बात समझ लेनी चाहिए कि जब तक यह बात स्पष्ट न हो कि कौन "आतंकित" कर रहा है, किसको "आतंकित" कर रहा है, और कौन "आतंकित" हो रहा है, तब तक अपने आप में इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता या फिर इसका कोई भी अर्थ बनाया जा सकता है।

फ़िलिस्तीन के राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध को अमेरिकी, ब्रिटिश, फ़्रांसीसी व आम तौर पर पश्चिमी साम्राज्यवादी और साथ ही ज़ायनवादी इज़रायली राज्य (याद रखें इज़रायल कोई राष्ट्र या देश नहीं है) आतंकवादी के रूप में चित्रित करता है। जब हमास पैदा नहीं हुआ था, फ़िलिस्तीन की आज़ादी की लड़ाई का नेतृत्व पूरी तरह से सेक्युलर यासर अराफ़ात के नेतृत्व वाले पीएलओ के हाथों में था तब भी फ़िलिस्तीन की आज़ादी के लिए लड़ने वाली सभी शक्तियों को अमेरिकी व पश्चिमी साम्राज्यवाद व उसके टट्टू और ज़ायनवादी आतंकवादी क़रार दिया करते थे। वजह यह कि फ़िलिस्तीन की मुक्ति के लिए जारी संघर्ष से वे आतंकित होते हैं। आज भी फ़िलिस्तीन की आज़ादी की लड़ाई की अगुवाई में महज़ हमास नहीं है (जो स्वयं अब एक सेक्युलर राज्य की स्थापना की बात करता है), बल्कि और कई ताक़तें हैं जिनका इस्लामी कट्टरपन्थी विचारधारा से कोई लेना-देना नहीं है। मसलन, एक विचारणीय ताक़त है पी.एफ़. एल.पी. यानी 'पाप्युलर फ्रण्ट फ़ॉर दि लिबरेशन ऑफ़ पेलेस्टाइन'। यह एक प्रगतिशील, जनवादी व सेक्युलर ताक़त है जो फ़िलिस्तीन के सेक्युलर राज्य की स्थापना के लिए लड़ रही है। लेकिन साम्राज्यवादियों और ज़ायनवादियों के लिए जो भी फ़िलिस्तीन की आज़ादी की बात करेगा और उसके लिए जुझारू तरीक़े से लड़ने का रास्ता अपनायेगा, वह आतंकवादी कहलायेगा। ठीक उसी प्रकार जैसे 1947 में राजनीतिक आज़ादी मिलने के पहले भारत में जो भी क्रान्तिकारी या जुझारू ताक़तें भारत की आज़ादी की बात करती थीं और उसके लिए समझौताविहीन और जुझारू संघर्ष की बात करती थीं, ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता उन्हें आतंकवादी क़रार देती थी। लेकिन देश की जनता उन्हें क्रान्तिकारी मानती थी।

अगर आपके देश में कोई साम्राज्यवादी ताक़त आकर कब्ज़ा कर ले तो क्या आपको हथियार उठा कर लड़ने का हक़ है? बिल्कुल है। अगर आप अन्तरराष्ट्रीय क़ानून की बात करें, जिसे सभी देश मान्यता देते हैं, तो वह भी कहता है कि किसी भी जबरन कब्ज़ा करने वाली ताक़त के ख़िलाफ़ किसी भी देश के लोगों को हथियारबन्द बग़ावत करने और अपनी

(पेज 14 पर जारी)

भारत के लोगों को औपनिवेशिक नस्लवादी इज़रायल का विरोध क्यों करना चाहिए?

(पेज 13 से आगे)

आज़ादी के लिए सशस्त्र संघर्ष करने की पूरी आज़ादी है। यह आतंकवाद नहीं है। यह आत्मरक्षा और मुक्ति के लिए और ग़ुलामी के विरुद्ध संघर्ष है। अगर आप को हथियारबन्द ताक़त और हिंसा के ज़रिये कोई ग़ुलाम बनाकर रखता है तो अन्तरराष्ट्रीय क़ानून के ही मुताबिक आप हथियारबन्द संघर्ष और क्रान्तिकारी हिंसा द्वारा उसकी मुख़ालफ़त कर सकते हैं, उसके विरुद्ध लड़ सकते हैं। यह भी हम नहीं, अन्तरराष्ट्रीय क़ानून कहता है, जिसे सभी देशों से मान्यता प्राप्त है, भारत से भी।

अब इस बुनियादी तर्क के आधार पर इस बात पर विचार करें : जब हमास के नेतृत्व में फ़िलिस्तीनी जनता ने 7 अक्टूबर 2023 को विद्रोह किया और इज़रायल पर हमला किया तो क्या वह आतंकवाद था? याद रखें कि ग़ज़ा पट्टी को इज़रायल ने 2006 में ग़ज़ा के फ़िलिस्तीनी मुक्तियोद्धाओं के संघर्ष के कारण घबराकर छोड़ दिया था। लेकिन उसके बाद 20 साल से उसने ग़ज़ा की सैन्य घेराबन्दी और नाकेबन्दी कर रखी है और ग़ज़ा के ऊपर आये-दिन बिना वजह अपने लड़ाकू विमानों से बम बरसाकर बेगुनाह नागरिकों, बच्चों, बूढ़ों, औरतों की हत्याएँ करता रहता है। ग़ज़ा को दुनिया से रिश्ता नहीं रखने दिया जाता था, उसके भीतर पर्याप्त राहत सामग्री, दवाएँ, ईंधन, बिजली, भोजन आदि नहीं पहुँचने दिया जाता था और कुछ अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा बस मामूली सामग्री पहुँचने की इजाज़त दी जाती है, जिसके कारण ग़ज़ा के लोग लगातार भुखमरी, कुपोषण, ग़रीबी में जी रहे थे। इस लगातार जारी ज़ुल्म के अलावा, 2006 के बाद से इज़रायल ने ग़ज़ा पट्टी पर बाक़ायदा कई सैन्य हमले करके हज़ारों की संख्या में लोगों का क़त्लेआम किया। ग़ज़ा के लोगों के पास न तो कोई हवाई सेना है, न नौसेना है, न टैंक हैं और न ही कोई अन्य अत्याधुनिक हथियार। दूसरी ओर, इज़रायल को अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन व फ़्रांस आदि से दुनिया के सबसे आधुनिक हथियार मिलते हैं ताकि इज़रायली फ़ासीवादी व नस्लवादी गुण्डे मध्य-पूर्व में मौजूद अक़ूत तेल भण्डार के नियन्त्रण में पश्चिमी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप को बनाये रखें। अत्याधुनिक हथियारों और करोड़ों डॉलर की मदद से लैस इज़रायली हत्यारे नियमित तौर पर ग़ज़ा को कुपोषण व भूख की स्थिति में रखते हैं और नियमित अन्तरालों पर उस पर बम बरसाते हैं, अमेरिका और ब्रिटेन के लिए उनके नये हथियारों का परीक्षण ग़ज़ा के बच्चों और औरतों पर मिसाइलें व बम बरसाकर करते रहते हैं।

नतीजतन, ग़ज़ा दुनिया का सबसे बड़ा यातना-शिविर और खुली जेल बना दिया गया है। ऐसे में, क्या यातना-शिविर के बन्दियों को जेल तोड़कर विद्रोह करने का हक़ है? बिल्कुल है। असल में, नात्सियों द्वारा बनाये गये यातना-शिविरों के भीतर से खुद यहूदी व कम्युनिस्ट कैदियों की हथियारबन्द बग़ावत की कई मिसालें इतिहास में मौजूद हैं, और आज दुनिया के सभी लोग उसे जनता की बग़ावत के तौर पर ही याद करते हैं। 7 अक्टूबर 2023 को जो हमला हुआ, वह भूख, कुपोषण, हत्याकाण्डों और अपमान से तंग आ चुकी ग़ुलाम क़ौम की बग़ावत थी, एक मुक्ति-युद्ध था और युद्ध में लोग मरते हैं। जो इज़रायली मरे उनका बड़ा हिस्सा ग़ज़ा के यातना-शिविर के ठीक बाहर ड्रग्स और नशे में धुत्त होकर नाच-पार्टी कर रहे थे। भूख, कुपोषण और इज़रायली बमों से मरते बच्चों से कुछ सौ मीटर दूर ही सेटलर उपनिवेशवादी इज़रायलियों का यह नंगनाच जारी था। अधिकांश इज़रायली जो मारे गये वे या तो इज़रायली सैनिक थे या इस अश्लील समारोह में बेशर्मी का प्रदर्शन कर रहे सेटलर कब्ज़ाधारी।

जैसा कि भगतसिंह ने कहा था कि हम क्रान्तिकारी हैं और हर जीवन के मूल्य को समझते हैं और जीवन से प्यार करते हैं। लेकिन एक ऐसी दुनिया में जहाँ अन्याय, दासता, शोषण, हिंसा और उत्पीड़न है, जहाँ वर्गों के बीच युद्ध जारी है, जहाँ साम्राज्यवाद और ग़ुलाम बनाये गये राष्ट्रों के बीच युद्ध जारी है, वहाँ किसी आदर्श समाज की कल्पना से पैदा होने वाली सदिच्छाओं का बहुत महत्व नहीं रह जाता है। उल्टे, एक न्यायपूर्ण, समानतामूलक, शोषणमुक्त, उत्पीड़नमुक्त समाज बनाने के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है और किसी की भी इच्छा से स्वतन्त्र युद्ध में जानें भी जाती हैं। यह हर कोई जानता है और मानता है। क्या कोई इस बात का खण्डन कर सकता है कि भारत की आज़ादी की लड़ाई में भी हिंसा हुई, लोगों की जानें गयीं, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की भी जानें गयीं और भारत के मुक्तियोद्धाओं की भी जानें गयीं। लेकिन आज़ादी हासिल करने के लिए यह पीड़ा झेलना अनिवार्य था। ठीक उसी प्रकार जैसे किसी बच्चे के जन्म में प्रसव-पीड़ा होती ही है।

हिंसा भी दो प्रकार की होती है : शासक वर्गों द्वारा की जाने वाली हिंसा जिसे हमारे सामने अदृश्य बना दिया जाता है क्योंकि हमें उसका आदी बना दिया जाता है; और, आत्मरक्षा और मुक्ति के लिए जनता की ओर से की जाने वाली हिंसा। जनता द्वारा की जाने वाली हिंसा भी दो प्रकार की होती है : पहला, जनता के कुछ विशिष्ट लोग बिना जनता को साथ लिये नायकत्वपूर्ण तरीक़े से शासक वर्ग के विरुद्ध वैयक्तिक हिंसा करते हैं और अपनी कुरबानी तक देने से नहीं डरते; दूसरा, जहाँ जनता का विचारणीय हिस्सा संगठित और गोलबन्द होकर अपने शोषकों और उत्पीड़कों की सत्ता को उखाड़ फेंकने का संघर्ष करता है। शासक वर्ग की हिंसा प्रतिक्रियावादी आतंकवादी हिंसा है और जनता के कुछ बहादुर लोगों द्वारा जनता को साथ लिये बिना शासक वर्ग के विरुद्ध वैयक्तिक हिंसा करना क्रान्तिकारी आतंकवादी हिंसा है। पहली वाली प्रतिक्रियावादी आतंकवादी हिंसा इसलिए है क्योंकि वह शोषण और उत्पीड़न को क़ायम रखने के लिए शासक वर्गों और उनकी सरकार व आम तौर पर राज्यसत्ता द्वारा की जाती है। दूसरी वाली क्रान्तिकारी आतंकवादी हिंसा इसलिए है क्योंकि वह जनता के कुछ लोगों द्वारा जनता के पक्ष में सदिच्छाओं के आधार पर दुस्साहसवादी ढंग से की जाती है। यह हमेशा शासक वर्गों की हिंसा के विरुद्ध कुछ जल्दबाज़ और रूमानी लोगों द्वारा की जाने वाली क्रान्तिकारी आतंकवादी हिंसा होती है और यह कभी भी शासक वर्ग की सत्ता को अर्थपूर्ण चुनौती नहीं दे सकती है, चाहे ऐसे दुस्साहसवादी तौर-तरीक़े अपनाने वाले क्रान्तिकारियों की इच्छाएँ कितनी ही पवित्र क्यों न हों, उनके इरादे कितने ही नेक क्यों न हों और वे कितने ही बहादुर क्यों न हों। ऐसे नेक और बहादुर लोगों की समस्या यह है कि वे जनता पर भरोसा करने के बजाय, हथियारों पर भरोसा करते हैं; वे जनता को इतिहास बनाने वाली शक्ति नहीं मानते। इसलिए जनता में भरोसा रखने वाली क्रान्तिकारी ताक़तें उनकी भी आलोचना करती हैं। वे मानती हैं कि क्रान्तिकारी जनदिशा के ज़रिये जनता को जागरूक, गोलबन्द और संगठित करने और शासक वर्गों के विरुद्ध संघर्ष करने के रास्ते ही शोषण, अन्याय और दमन के विरुद्ध लड़ा जा सकता है। इस संघर्ष में जब और अगर जनता सामूहिक तौर पर हथियार उठाने को बाध्य हो जाती है और शासक वर्ग की सत्ता को बलपूर्व उखाड़ फेंकने का संघर्ष करने का रास्ता अख्तियार करती है, तो वह सही मायने में जनता की सामूहिक शक्ति द्वारा की जाने वाली क्रान्तिकारी हिंसा होती है और वह हमेशा ही शासक वर्गों की संगठित हिंसा का जनता की संगठित हिंसा द्वारा जवाब होती है।

फ़िलिस्तीन में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए कुछ लोग नहीं, बल्कि पूरा फ़िलिस्तीनी राष्ट्र लड़ रहा है। उसने शान्तिपूर्ण तरीक़े से भी लड़ाइयाँ लड़ीं। उसने याचिकाओं पर दस्तख़त करवाये, उसने शान्तिपूर्ण धरने दिये, उसने हस्ताक्षर अभियान चलाये और अन्तरराष्ट्रीय समुदाय से शान्तिपूर्ण अपीलें कीं। लेकिन इन सबका जवाब इज़रायली बमों, मिसाइलों, गोलियों और टैंकों से और अपमानजनक उत्पीड़न व दमन से दिया गया। नतीजतन, फ़िलिस्तीनी राष्ट्र ने बलपूर्वक और हथियारबन्द बग़ावत का रास्ता चुना, ठीक उसी तरह से जैसे भारत में भी तमाम राष्ट्रीय मुक्तियोद्धाओं ने औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध यह रास्ता चुना था और न सिर्फ़ भारत में बल्कि अल्जीरिया, इण्डोनेशिया, तुर्किये, घाना, ट्यूनीशिया, कोरिया और तमाम ऐसे देशों में जनता ने चुना था, जिन्हें साम्राज्यवाद ने ग़ुलाम बनाकर रखा था। क्या यह आतंकवाद है? नहीं! अगर ऐसा है तो भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, सुखदेव, राजगुरू, बिस्मिल, अशफ़ाक सभी आतंकवादी हो जायेंगे।

मज़दूर, मेहनतकश और आम जनता को शासक वर्ग के नज़रिये से चीज़ों को देखने की आदत डलवायी जाती है। जवाब में हमें सचेतन तौर पर अपने वर्ग हितों के आधार पर चीज़ों को देखने की आदत डालनी चाहिए और शासक वर्ग की दिमाग़ी ग़ुलामी से ख़ुद को मुक्त करना चाहिए। फ़िलिस्तीनी प्रतिरोध भी आतंकवाद नहीं है, बल्कि मुक्ति-युद्ध है। यह सिर्फ़ हम नहीं मानते। आज दुनिया की कुल आबादी का बड़ा हिस्सा यही मानता है। आपको दुनिया भर में तमाम शहरों में लाखों की तादाद में आम मज़दूरों, छात्रों-युवाओं, महिलाओं द्वारा फ़िलिस्तीन के पक्ष में किये जा रहे अभूतपूर्व विशालकाय प्रदर्शनों के बारे में पता होगा। आज दुनिया में करोड़ों की तादाद में लोग फ़िलिस्तीन और उसकी जनता के पक्ष में खड़े हैं जबकि इज़रायली ज़ायनवादी हत्यारे सेटलर राज्य और उसके अमेरिकी व पश्चिमी साम्राज्यवादी आक़ाओं के पक्ष में एक बेहद छोटा कट्टरपन्थी, नस्लवादी व फ़ासीवादी गिरोह खड़ा है। हमारा देश इस मामले में थोड़ा अलग है। अधिकांश लोगों को फ़िलिस्तीन के पूरे मसले में बारे में उपयुक्त रूप में जानकारी ही नहीं है। इसलिए यहाँ के फ़ासीवादियों के इज़रायल-समर्थक प्रचार में भी कई लोग बह जाते हैं। बड़ी आबादी ऐसी है जो नाजानकारी में कोई पक्ष चुनने की स्थिति में ही नहीं होती। लेकिन जनता को अपना पक्ष चुनना चाहिए। उसका पक्ष क्या है?

जनता का पक्ष यह है कि दुनिया के किसी भी कोने में हो रहे अन्याय, गुलामी, शोषण, ग़ैर-बराबरी और दमन के ख़िलाफ़ हमें आवाज़ उठानी चाहिए। हम चाहें जहाँ भी हों, हमें उसके विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द करनी चाहिए। क्यों?

मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता को किसी पर भी हो रहे अन्याय का विरोध क्यों करना चाहिए?

उपरोक्त सारी बातों के बावजूद कुछेक साथियों के दिमाग़ में यह बात आ सकती है कि फिर यह लड़ाई तो फ़िलिस्तीनी जनता और राष्ट्र की है, इसको लेकर हमें कुछ भी करने की क्या ज़रूरत है? या हम कर ही क्या सकते हैं? या हमारे कुछ करने से फ़र्क क्या पड़ेगा? हमारा कहना है कि हमें फ़िलिस्तीन पर हो रहे ज़ुल्म का विरोध करना चाहिए, हम विरोध कर सकते हैं, और इस विरोध से फ़र्क पड़ेगा। क्यों?

हमें विरोध इसलिए करना चाहिए कि जब तक मज़दूर और मेहनतकश देश में या दुनिया के किसी भी हिस्से में ग़रीबों, मजलूमों, दबाये-कुचले गये मेहनतकश लोगों, दमित क़ौमों, दमित जातियों, दमित जेण्डरों के लोगों पर हो रहे ज़ुल्म और नाइन्साफ़ी का विरोध नहीं करते, तब तक वे कभी भी एक *राजनीतिक वर्ग* नहीं बन सकते, जो कि अपने वर्ग हितों के लिए सचेतन, संगठित और गोलबन्द तौर पर संघर्ष करने की क्षमता रखता है, जो अपना राज, यानी जनता का राज क़ायम रखने की क्षमता रखता है। जब हम केवल अपने वर्ग के तात्कालिक आर्थिक और भौतिक हितों के बारे में ही सोचते और लड़ते

(पेज 15 पर जारी)

'राइट्स मॉनिटर' के अनुसार, इज़रायल ने पिछले अक्टूबर से ग़ाज़ा पट्टी पर 90,000 टन बम गिराये हैं, जो द्वितीय विश्व युद्ध में यूरोप के तमाम बड़े शहरों पर गिराये गये बमों की संख्या से भी अधिक है!
इजरायल के रासायनिक हमलों से ग़ाज़ा की खेती की ज़मीन बर्बाद हो चुकी है और फिलिस्तीनियों में साँस की बीमारियाँ और कैंसर फैल रहे हैं।

भारत की मेहनतकश जनता को फ़िलिस्तीन की जनता का साथ क्यों देना चाहिए?

(पेज 14 से आगे)

हैं, लेकिन हमारे ही साथ अन्य शोषित, दमित वर्गों व सामाजिक समुदायों पर शासक-शोषक वर्गों द्वारा किये जा रहे शोषण, दमन और अन्याय पर चुप रहते हैं, तो इससे दो त्रासद घटनाएँ घटती हैं : पहला, हम शोषक-शासक वर्गों के "अन्याय, शोषण, दमन और हिंसा करने के अधिकार" का अनजाने ही समर्थन कर बैठते हैं, उसकी हिमायत कर बैठते हैं; जब एक दफ़ा शासक-शोषक वर्गों की हिंसा को, अन्याय और दमन को, शोषण को यह वैधीकरण मिल जाता है तो वह उसका इस्तेमाल हमारे ऊपर भी करता है, यानी हम मज़दूरों-मेहनतकशों के वर्ग पर भी करता है; दूसरा, अकेले मज़दूर दुनिया नहीं बदलता है, शोषित-दमित-उत्पीड़ित जनता दुनिया बदलती है; यह सच है कि वह सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के बिना दुनिया बदल नहीं सकती, क्रान्ति नहीं कर सकती, बस विद्रोह तक सीमित रह जाती है; लेकिन यह भी सच है कि व्यापक मेहनतकश जनता की अकूत ताक़त को साथ लिये बिना सर्वहारा वर्ग भी अकेले इतिहास नहीं बना सकता; इसलिए सर्वहारा वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के बीच के सम्बन्ध के सवाल को क्रान्तिकारी तरीक़े से हल करना ज़रूरी है; सर्वहारा वर्ग जनता के सभी दमित, शोषित, उत्पीड़ित वर्गों और हिस्सों को साथ लेकर ही दुनिया बदल सकते हैं और मेहनतकश का राज क़ायम कर सकते हैं; अगर मज़दूर वर्ग शासक वर्गों के विरुद्ध परिवर्तनकामी संघर्ष में ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों, अर्द्धसर्वहारा वर्ग, निम्न-मध्यवर्ग, दमित क़ौमों, आम मेहनतकश घरों की औरतों, दलितों, आदिवासियों और प्रगतिशील छात्रों-युवाओं को साथ नहीं लेते तो वह एक ऐसे शासक वर्ग से कैसे लड़ सकते हैं, जो राजनीतिक वर्ग चेतना से लैस है और जनता के विरुद्ध एकजुट है चाहे वह हिन्दू उच्च वर्ग से आता हो, मुसलमान उच्च वर्ग से आता हो, सवर्ण उच्च वर्ग से आता हो या दलित व पिछड़ा उच्च वर्ग से आता हो, चाहे वह उच्च वर्ग की औरतों के बीच से आता हो या फिर उच्च वर्ग के पुरुषों के बीच से? यानी, जहाँ भी जनता से अन्तरविरोध का प्रश्न आता है तो शासक वर्ग जाति, वर्ग, जेण्डर, धर्म के मामले में एकदम एकजुट है, चाहे उनके आन्तरिक झगड़े कुछ भी हों। ऐसा शासक वर्ग ही देश-दुनिया के हर मसले पर एक पोजीशन लेता है, चाहे वह उससे सीधे प्रत्यक्षत: प्रभावित होता हो या न होता हो। ये ही चीज़ें तो शासक वर्ग को एक राजनीतिक वर्ग बनाती हैं और यही तो वजह है कि आज वह हम पर शासन कर पा रहा है। शासक वर्ग इसी वजह से हमेशा ही चाहता है कि मज़दूर वर्ग ट्रेडयूनियन संघर्ष से आगे न जा पाये और ठीक इसी वजह से महज़ ट्रेडयूनियन संघर्षों तक सीमित रहने की प्रवृत्ति, यानी ट्रेडयूनियनवाद, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के भीतर पूँजीवादी विचारधारा की भूमिका अदा करता है। ठीक इसलिए हम मज़दूरों को हर मसले पर सोचना चाहिए, बोलना चाहिए, जूझना चाहिए चाहे वह हमारे देश में अलग-अलग दमित-शोषित हिस्सों पर हो रहा ज़ुल्म और अन्याय हो, या फिर फ़िलिस्तीन या दुनिया में कहीं भी किसी भी रूप में हो रहा ज़ुल्म और अन्याय हो।

यानी, फ़िलिस्तीन का मसला भी हमारा मसला है। सीरिया का मसला भी हमारा मसला है। अमेरिका में काले लोगों पर हो रहा ज़ुल्म भी हमारा मसला है। दुनिया के हर शोषित, दमित, उत्पीड़ित और अन्याय और हिंसा की शिकार आबादी का मसला हमारा मसला है। शासक वर्ग कहता है : 'यह तुम्हारा मसला नहीं है, अपने काम से काम रखो।' हम जवाब देते हैं : 'आज से अन्याय और शोषण के हर मसले को हम अपना मसला बना रहे हैं, तुम जो उखाड़ सकते हो उखाड़ लो।' इसी बात से हुक्मरानों की रूह काँपती है, यानी कि, कहीं मज़दूर वर्ग अपने आपको शोषित-दमित जनता के सभी वर्गों और हिस्सों से जोड़ न ले। और हमें ठीक यही करना चाहिए और करना होगा।

आज के समय में दुनिया भर के तरक़्क़ीपसन्द, इन्साफ़पसन्द और एक महसूस करने वाला दिल रखने वाले हर इन्सान के लिए और विशेष तौर पर आम मेहनतकश जनता के लिए फ़िलिस्तीन का मसला एक अहम मसला है। यह न सिर्फ़ हमारी इन्सानियत का लिटमस पेपर टेस्ट है, बल्कि यह विश्व पूँजीवाद की प्रधान गाँठ बना हुआ है। फ़िलिस्तीन की आज़ादी से दुनिया के साम्राज्यवादी और इज़रायली ज़ायनवादी क्यों इतना घबराते हैं कि एक पूरी क़ौम का सफ़ाया करने की कोशिश कर रहे हैं? इसलिए क्योंकि फ़िलिस्तीन की आज़ादी का मतलब है इज़रायल नामक सेटलर औपनिवेशिक राज्य का अन्त। इज़रायल के अन्त का अर्थ है समूचे मध्य-पूर्व ही नहीं बल्कि समूची दुनिया में शोषक व लुटेरे साम्राज्यवादियों और लगभग सभी देशों के हुक्मरान पूँजीपति वर्ग को एक भारी झटका। इज़रायल आज विश्व पूँजीवाद के लिए एक अहम औज़ार बना हुआ है। वह दुनिया की तमाम पूँजीवादी सरकारों को जनता के बर्बर दमन के नये-नवेले तौर-तरीक़े सिखाता है। हमारे देश में मोदी सरकार के दौर में इज़रायल की कुख्यात आतंकवादी ख़ुफ़िया एजेंसी मोसाद के हमारे देश के ख़ुफ़िया एजेंसियों और पुलिस व अर्द्धसैनिक बलों से गहरे सम्बन्ध हैं; देश की जनता के निजी जीवन पर चौकसी बरतने के लिए फ़ासीवादी मोदी सरकार ज़ायनवादी इज़रायल से तमाम क़िस्म के सॉफ्टवेयर व उपकरण ख़रीदती है। यही नहीं स्वयं भारत इज़रायल को सैन्य सामग्री बेचता है, जिसका इस्तेमाल ग़ज़ा के बच्चों, बूढ़ों, औरतों के क़त्लेआम में किया जाता है। हर जगह के सबसे कट्टरपन्थी, अर्द्धफ़ासीवादी, फ़ासीवादी, नस्लवादी, जनवाद-विरोधी, मज़दूर-विरोधी हुक्मरानों का इज़रायल के साथ इश्क-मुहब्बत का रिश्ता है चाहे वह हंगरी का ओरबान हो, अमेरिका का ट्रम्प हो, इटली की मेलोनी हो, भारत का मोदी हो। इज़रायल की हत्यारी दमनकारी सत्ता और जनता को दबाने-कुचलने और मारने के उसके नायाब तरीक़े दुनिया भर के जालिम हुक्मरानों के लिए एक सीखने वाला प्रयोग-सरीखा है। खुद अमेरिका की पुलिस अमेरिका के काले लोगों, प्रगतिशील छात्रों, युवाओं, स्त्रियों व मज़दूरों को कुचलने के लिए अपनी पुलिस को नये-नये तौर-तरीक़ों में प्रशिक्षण के लिए इज़रायल भेजती है। कई यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के हुक्मरान भी यही करते हैं। इज़रायल अमानवीयता, नस्लवाद, जनवाद-विरोध, कट्टरपन्थ, तानाशाही, फ़ासीवाद की एक ऐसी मिली-जुली मिसाल है, जो दुनिया के सभी मज़दूर-विरोधी और जन-विरोधी शासकों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। और दुनिया भर में जनता के बहुलांश के लिए ठीक इसीलिए यह हत्यारा और ज़ालिम सेटलर औपनिवेशिक राज्य, यानी इज़रायल, नफ़रत और घृणा का विषय है।

हमारे देश में भी व्यापक जनता को इज़रायल की सच्चाई के बारे में व्यापक पैमाने पर शिक्षित किया जाना चाहिए। उन्हें इसका सच्चा इतिहास बताया जाना चाहिए। उन्हें यह प्रदर्शित किया जाना चाहिए इज़रायल न तो कोई देश है और न ही कोई क़ौम या राष्ट्र है। यह यूरोपीय कट्टरपन्थी नस्लवादी व फ़ासीवादी यहूदी विचारधारा, राजनीति व संगठनों के ज़रिये मध्य-पूर्व में खड़ी की गयी पश्चिमी साम्राज्यवाद की सैन्य चौकी है। यह विशेष तौर पर अमेरिकी साम्राज्यवादी धुरी का लठैत है, जिसका काम ही यह है कि मध्य-पूर्व को बाँटकर, दबाकर, कुचलकर रखो ताकि सबसे रणनीतिक माल, यानी तेल, के अकूत भण्डारों पर पश्चिमी साम्राज्यवाद के नियन्त्रण को बरक़रार रखा जाय। इस काम में मध्य-पूर्व की शेख़ों की सत्ताएँ भी साम्राज्यवाद का साथ देती हैं क्योंकि उनके हित मध्य-पूर्व की जनता के बिल्कुल विपरीत हैं। इससे भी पता चलता है कि फ़िलिस्तीन का मसला इस्लाम या मुसलमानों का मसला कतई नहीं है। अगर वह होता तो सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, क़तर, ओमान के लुटेरे शेख़ जो पूरी दुनिया में अपने आप को मुसलमानों का नुमाइन्दा और हिमायती बताते हैं, इज़रायल द्वारा फ़िलिस्तीनियों के नरसंहार में उसकी मदद नहीं करते।

कुल मिलाकर, साम्राज्यवाद और उसके सबसे बर्बर हत्यारे लठैत और गुण्डे के रूप में इज़रायली सेटलर औपनिवेशिक राज्य पूरी दुनिया की जनता का ख़तरनाक और घृणास्पद दुश्मन है। उसकी पराजय और अन्त दुनिया के हर देश की आम मेहनतकश जनता के लिए एक विजय है क्योंकि यह आम तौर पर हम सबके दुश्मन यानी साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को कमज़ोर बनाती है और यह हर जगह इन्साफ़ और बराबरी की लड़ाई को ताक़त देती है। इसलिए फ़िलिस्तीन की मुक्ति का प्रश्न हम सभी मेहनतकश लोगों के लिए महत्वपूर्ण सवाल है और हमारी एकजुटता साम्राज्यवादी लुटेरों और उसके भाड़े के ज़ायनवादी हत्यारों के साथ नहीं, बल्कि फ़िलिस्तीनी जनता और दमित राष्ट्र के साथ है। और अन्याय के दौर में चुप्पी हमेशा अन्यायकारी ताक़तों का ही अनकहा समर्थन होती है और यह ख़ुद हमारे ऊपर हो रहे अन्याय को भी वाजिब ठहराने का काम करती है। इसलिए हमें भी चुप नहीं रहना है। हम जहाँ भी हैं, वहाँ छोटे-बड़े रूपों में फ़िलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष के पक्ष में और अमेरिकी और इज़रायली हत्यारों के विरोध में आवाज़ बुलन्द करनी है।

हमें इसलिए भी ऐसा करना होगा कि एक देश, एक जनता के तौर पर हम भी 200 सालों तक साम्राज्यवाद की गुलामी और उसके द्वारा हमारे देश के हर समुदाय के लोगों के ही क़त्लेआम का दंश झेल चुके हैं। आज साम्राज्यवाद और ज़ायनवाद के ख़िलाफ़ आज़ादी की लड़ाई लड़ रही फ़िलिस्तीनी जनता के पक्ष में न खड़े होना, हमारे लिए अपनी क्रान्तिकारी विरासत पर थूकने के समान है। किसी भी देश की ग़ुलामी का समर्थन करना या उसे लेकर चुप्पी बनाये रखना, अपनी ग़ुलामी के इतिहास को भूलने के समान है, यह अपने ही शोषकों, लुटेरों, यानी पश्चिमी साम्राज्यवाद से इश्क जताने के समान है। ऐसा कोई ऐसी जनता ही करेगी, जिसके अन्दर आत्मसम्मान और आत्म-गरिमा की कोई भावना नहीं है। इसलिए एक देश के तौर पर भी हमारे देश के लोगों को फ़िलिस्तीन की आज़ादी की लड़ाई का समर्थन करना होगा, क्योंकि फ़िलिस्तीनी राष्ट्र और जनता को दबाने-कुचलने वाली ताक़तें वही हैं, जिन्होंने 200 साल तक हमें ग़ुलाम बनाकर रखा था और आज भी उनकी पूँजी हमें लूट-खसोट रही है।

हम फ़िलिस्तीनी जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के पक्ष में क्या कर सकते हैं और क्या वह कारगार होगा?

हमारे देश की जनता ऐतिहासिक तौर पर तमाम देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के पक्ष में रही है। एक दौर में हमारे देश में विचारणीय संख्या में लोग फ़िलिस्तीन की मुक्ति के संघर्ष का भी समर्थन करते थे। हमारे देश के आज़ादी के आन्दोलन में सक्रिय कई बुर्जुआ नेताओं ने भी फ़िलिस्तीन की आज़ादी का समर्थन किया था और इज़रायली कब्ज़े को ग़लत ठहराया था। इसमें गाँधी और नेहरू भी शामिल थे। लेकिन विशेष तौर पर 1980 के दशक में नवउदारवादी नीतियों की चोरी-छिपे शुरुआत और 1990 के दशक में उनकी खुलेआम शुरुआत के बाद हमारे देश के हुक्मरानों ने फ़िलिस्तीन के सवाल पर समझौतापरस्ती करनी शुरू कर दी और अपने पूँजीवादी हितों के लिए इज़रायल से क़रीबी बढ़ानी शुरू कर दी। औपचारिक तौर पर आज भी भारत सरकार फ़िलिस्तीनी राज्य की स्थापना की हिमायत करती है। लेकिन वास्तव में वह इज़रायल से नज़दीकियाँ बढ़ा रही है और ग़ज़ा के कत्लेआम में उसे सैन्य सामग्री की आपूर्ति कर अप्रत्यक्ष तौर पर मदद भी कर रही है।

इसी दौर में, देश की जनता के बीच फ़िलिस्तीन के मसले को लेकर अज्ञान

(पेज 16 पर जारी)

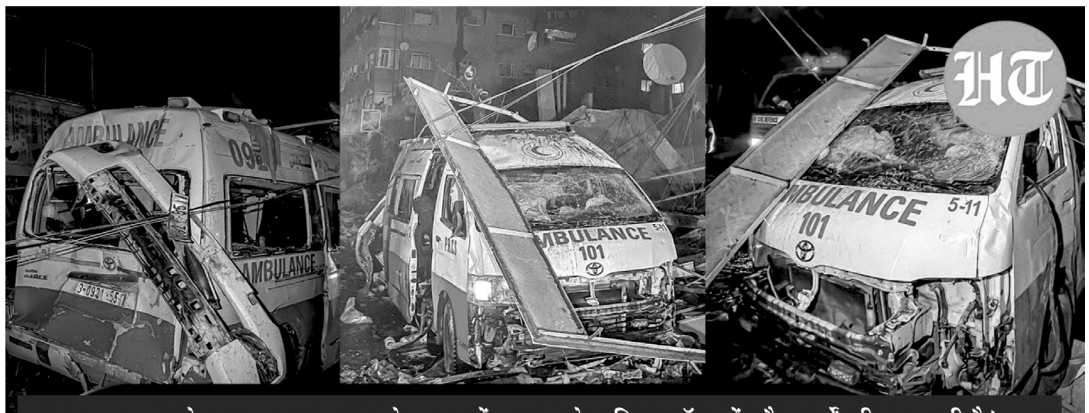

इज़रायल ने 7 अक्टूबर 2023 से ग़ाज़ा में 1000 से अधिक डॉक्टरों और नर्सों की हत्या की है! अनेक सबूत हैं कि इज़रायल ने जानबूझकर स्वास्थ्य कर्मियों को निशाना बनाया है।

पत्रकारों की सुरक्षा समिति के अनुसार, 7 अक्टूबर 2023 से ग़ाज़ा पर इज़रायली हमलों में कम से कम 275 पत्रकार मारे गये हैं।

भारत के लोगों को औपनिवेशिक नस्लवादी इज़रायल का विरोध क्यों करना चाहिए?

(पेज 15 से आगे)

भी फैला और भाजपा की मोदी सरकार के आने के बाद तो फ़िलिस्तीन के मसले को एक धार्मिक व साम्प्रदायिक रंग दे दिया गया, जबकि हम देख चुके हैं कि फ़िलिस्तीन के राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध का मुसलमानों या इस्लाम से कोई रिश्ता नहीं है। वह एक क़ौम की आज़ादी की लड़ाई है, जिसमें मुसलमान, ईसाई, यहूदी सभी शामिल हैं। फ़ासीवादी शासन के दौर में इस मसले को लेकर बाक़ायदा अज्ञान और नाजानकारी फैलायी गयी और इसे साम्प्रदायिक रंग देने की कोशिश की गयी। वैसे भी भारत के साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों की इज़रायल के ज़ायनवादी फ़ासीवादी सेटलरों से नैसर्गिक मित्रता बनती है क्योंकि दोनों ही मज़दूर-विरोधी, जनविरोधी और जनवाद-विरोधी हैं। दोनों ही भारत की मेहनतकश जनता के भी स्वाभाविक तौर पर शत्रु हैं। वहीं दूसरी ओर, फ़िलिस्तीन में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ रही जनता हमारी नैसर्गिक मित्र है। पर सवाल है कि हम उनके लिए क्या कर सकते हैं?

ज़ाहिर है, हम फ़िलिस्तीन जाकर उनके लिए लड़ नहीं सकते। फिर हम अपने देश में रहकर क्या कर सकते हैं? हम बहुत-कुछ कर सकते हैं। सबसे पहले तो अपने देश में हमें अपनी सरकार से यह माँग करनी चाहिए और इसके लिए बाक़ायदा संगठित तौर पर अभियान चलाना चाहिए कि भारत सरकार इज़रायली ज़ायनवादी राज्य से सभी कूटनीतिक सम्बन्धों, सैन्य सम्बन्धों और अन्य आर्थिक सम्बन्धों को तत्काल समाप्त करे, इज़रायली दूतावास और राजनयिकों को देश से बाहर करे। हम एक नस्लवादी कट्टरपन्थी हत्यारे राज्य और हुकूमत के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकते। आपको पता होना चाहिए कि ऐसा बहिष्कार पहले भी जनता के आन्दोलनों के बूते कामयाब हो चुका है। दक्षिण अफ्रीका में 1990 की दशक की शुरुआत तक रंगभेद की नीति वहाँ की श्वेत सेटलरों की सरकार द्वारा लागू की जाती थी। दुनिया के कई देशों में लोगों ने आन्दोलन कर अपनी सरकारों को बाध्य किया कि वह दक्षिण अफ्रीका का पूर्ण राजनीतिक व कूटनीतिक बहिष्कार करे और इसने वहाँ पर इसी रंगभेदी नस्लवादी शासन के अन्त में एक भूमिका निभायी। इज़रायल भी एक नस्ली भेद वाला अपार्थाइड राज्य है और दक्षिण अफ्रीकी रंगभेदी शासन से कहीं ज़्यादा बर्बर, हत्यारा, फ़ासीवादी राज्य है। उसका भी उसी प्रकार बहिष्कार होना चाहिए। ज़ाहिर है, इसके लिए बहुत बड़े पैमाने पर जनता के सक्रिय आन्दोलन की आवश्यकता है और आज इस मसले पर देश में जागरूकता की जो स्थिति है, इसमें बहुत वक़्त लगेगा। फिर भी इस दिशा में प्रयास शुरू करने होंगे।

लेकिन एक दूसरा तरीक़ा है, जिसे दुनिया भर की आम जनता पहले से ही अपना रही है और उसके कारण इज़रायल और उसके आका अमेरिका और पश्चिमी साम्राज्यवाद को पर्याप्त दिक़्क़तों का सामना करना पड़ रहा है। वह तरीक़ा है : बहिष्कार, विनिवेश, प्रतिबन्ध आन्दोलन यानी बायकॉट, डाइवेस्टमेण्ट, सैंक्शंस आन्दोलन। इस आन्दोलन का मक़सद क्या है? इज़रायली या इज़रायल का समर्थन करने वाली सभी कम्पनियों के उत्पादों का पूर्ण बहिष्कार; यानी उनके सामानों की ख़रीद को बन्द करना। इज़रायली अकादमिकों, लेखकों, कलाकारों का पूर्ण बहिष्कार, मसलन, इज़रायली या इज़रायल का समर्थन करने वाले लोगों द्वारा बनायी गयी फिल्मों, अन्य कलात्मक उत्पादों, बुद्धिजीवियों का पूर्ण बहिष्कार। इसे सांस्कृतिक व अकादमिक बहिष्कार कहा जाता है। इसके ज़रिये इन कम्पनियों, संस्थाओं व व्यक्तियों को बाध्य करना कि वे इज़रायल में निवेश को बन्द करें और जो निवेश हैं उन्हें वापस लें और उनसे कोई भी रिश्ता रखना बन्द करें। कई कम्पनियों को जनता के आन्दोलनों ने ऐसा करने को बाध्य कर दिया। जैसे कि फ़्रांसीसी कार कम्पनी रेनो। आज के समय में मैकडॉनल्ड, केएफसी, स्टारबक्स, कोका कोला आदि जैसे विशालकाय राष्ट्रपारीय कारपोरेशनों को इस बहिष्कार के कारण अरबों डॉलर का नुकसान हो रहा है, श्रीलंका, तुर्किये, बंगलादेश, मलेशिया, इण्डोनेशिया जैसे दर्जनों देशों में इन कम्पनियों की दुकानों व शोरूमों पर ताले लटक गये हैं। इन साम्राज्यवादी कम्पनियों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के बूते ही इज़रायल की अर्थव्यवस्था चलती है। लेकिन उनमें से कई के विनिवेश के कारण इज़रायली अर्थव्यवस्था बुरी तरह से डावाँडोल है।

अमेरिकी साम्राज्यवादियों और आम तौर पर पश्चिमी साम्राज्यवाद को इस आन्दोलन के कारण पिछले 1 साल में भारी नुक़सान उठाना पड़ा है। कई कम्पनियाँ भयंकर हानि में हैं, कुछ दिवालिया होने की कगार पर हैं। इसके कारण, तमाम पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों में पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा अपनी-अपनी मैनेजिंग कमेटियों यानी सरकारों पर दबाव बना रहा है कि वह इज़रायल को मदद बन्द करे, या कम करे या कम-से-कम शस्त्रों का निर्यात बन्द या कम करे।

पूरी दुनिया में आर्थिक, सांस्कृतिक व अकादमिक बहिष्कार के आन्दोलन के बढ़ते ज्वार के कारण इज़रायली अर्थव्यवस्था एक भँवर में फँसी हुई है। अमेरिकी मदद के बिना इज़रायल एक दिन भी ग़ाज़ा में अपना नरसंहार जारी रखने की स्थिति में नहीं है। सेटलर इज़रायली इससे बिलबिलाये हुए सड़कों पर निकल और बिलख रहे हैं और नेतनयाहू की सरकार का विरोध कर रहे हैं। लेकिन इस मदद का बोझ अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर भी बढ़ रहा है। नतीजतन, पहली बार एक सर्वे में पता चला कि आधे से ज़्यादा अमेरिकी इज़रायल के प्रति एक प्रतिकूल नज़रिया रखते हैं। यह एक बदलाव है। वजह यह कि पिछले 70 सालों से अमेरिकी जनता का इज़रायल के प्रति लगाव बढ़ाने के लिए अमेरिकी शासक वर्ग ने जिस प्रकार झूठ फैलाया है, जिस प्रकार नात्सियों द्वारा यहूदियों के नरसंहार का इस्तेमाल करके आज यहूदी कट्टरपन्थी नात्सियों की हरक़तों को जायज़ ठहराया है और जिस प्रकार अपने मीडिया (जो कि ज़ायनवादी अमेरिकियों के हाथों में है) के ज़रिये देश के लोगों का ब्रेन वॉश किया है, उसके कारण पारम्परिक तौर पर अमेरिकी जनता का बड़ा हिस्सा इज़रायल का समर्थक नहीं तो कम-से-कम उसके प्रति अनुकूल नज़रिया रखता था। पिछले 1 से 1.5 वर्षों में यह स्थिति बदल गयी है। यही हालत यूरोप के अधिकांश देशों की है, जिसकी भारी बहुसंख्या फ़िलिस्तीन के पक्ष में इज़रायल के विरोध में खड़ी है।

आज भारत और किसी भी देश के मेहनतकश लोग बीडीएस आन्दोलन के ज़रिये इज़रायल और उसके आक़ाओं को चोट पहुँचा सकते हैं, जिनके बूते इज़रायल बेगुनाह फ़िलिस्तीनियों का क़त्लेआम कर रहा है, एक ऐसा बर्बर क़त्लेआम जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। जिस तरीक़े से इस प्रक्रिया को इज़रायल अंजाम दे रहा है, उसका मुक़ाबला नात्सियों द्वारा यहूदियों के प्रति की गयी बर्बरता भी मुश्क़िल से कर पाती है। हम मज़दूर-मेहनतकश भी बहुत से ऐसे मज़दूरी-उत्पाद ख़रीदते हैं, जो इज़रायल का समर्थन और मदद करने वाली कम्पनियाँ बनाती हैं। हमें उन सभी उत्पादों का बहिष्कार कर, उनके विकल्पों को ख़रीदना चाहिए।

किसी के मन में आ सकता है कि इससे तो किन्हीं और पूँजीपतियों को फ़ायदा होगा! हो सकता है। लेकिन किसी भी राजनीतिक कार्रवाई का मूल्यांकन उसके लक्ष्य के चरित्र से किया जाता है। इस बहिष्कार आन्दोलन का मक़सद है एक राजनीतिक जनवादी लक्ष्य और माँग, यानी फ़िलिस्तीन की राष्ट्रीय मुक्ति का समर्थन करना और औपनिवेशिक कब्ज़ा करने वाले ज़ायनवादी इज़रायली सेटलरों का विरोध करना। जब हम विभिन्न इज़रायल समर्थक कम्पनियों का बहिष्कार करेंगे, उनके उत्पादों का बहिष्कार करेंगे और वैकल्पिक उत्पादों को प्रयोग करेंगे, तो बस इतना होगा कि अलग-अलग कम्पनियों में लाभप्रदता के आपसी रिश्ते बदल जायेंगे। तब भी हम मज़दूर के तौर पर मज़दूरी-उत्पाद पूँजीपतियों से ही ख़रीद रहे होंगे और पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसा ही हो भी सकता है, क्योंकि मज़दूरों के जीवन के लिए उपयोगी वस्तुएँ और सेवाएँ भी पूँजीवादी समाज में माल ही होती हैं और उन्हें भी पूँजीपतियों से ही ख़रीदना पड़ता है। इसलिए इस अभियान के विशिष्ट राजनीतिक जनवादी चरित्र के अनुसार, यह नीति बिल्कुल सही है कि साम्राज्यवादी ज़ायनवादियों और नस्लवादियों के नरसंहार को फाइनेंस करने वाली, यानी उसका वित्त-पोषण करने वाली कम्पनियों का बहिष्कार कर समूचे इज़रायली सेटलर औपनिवेशिक परियोजना को ध्वस्त करने में अपना योगदान दिया जाय। इसी से दुनिया में मज़दूर सत्ता और समाजवाद नहीं आ जायेगा। लेकिन इससे हमारा साझा दुश्मन यानी साम्राज्यवाद, नस्लवाद और फ़ासीवाद निश्चित ही कमज़ोर होंगे। वैसे भी हमारे महान शिक्षकों लेनिन और स्तालिन के मार्फ़त हम जानते हैं कि राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष हमेशा साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को कमज़ोर करते हैं। आज दुनिया में फ़िलिस्तीन के रूप में एक उपनिवेश और अफ्रीका व लातिन अमेरिका में कुछेक अर्द्धउपनिवेश और नवउपनिवेश ही बचे हैं। लेकिन ये साम्राज्यवाद के लिए भारी महत्व रखते हैं और वहाँ पर उपनिवेशवाद का पतन साम्राज्यवाद के विरुद्ध ही एक श्रृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया यानी 'चेन रिएक्शन' की शुरुआत कर सकता है और यह दुनिया भर में जनता के संघर्षों, मज़दूरों-मेहनतकशों के संघर्षों, दमित क़ौमों के संघर्षों और हर प्रकार के दमित समुदायों के संघर्षों को भारी बल देगा। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि आज फ़िलिस्तीन का प्रश्न विश्व साम्राज्यवाद की सबसे अहम गाँठ बना हुआ है और इसलिए फ़िलिस्तीन की आज़ादी का मसला पूरी दुनिया में दमित, उत्पीड़ित, शोषित मज़दूरों, मेहनतकशों, स्त्रियों, व अन्य दमित समुदायों का साझा मसला है, यह हमारा अपना मसला है।

इसलिए आप सभी मज़दूर-मेहनतकश साथी बहिष्कार के इस आन्दोलन से जुड़कर इज़रायली ज़ायनवादी नस्लवादी व एक विशिष्ट प्रकार की फ़ासीवादी सत्ता और उसके पश्चिमी साम्राज्यवादी आक़ाओं का पूर्ण बहिष्कार करें, उन्हें चोट पहुँचाएँ और फ़िलिस्तीन के लिए न्याय की लड़ाई में हिस्सेदारी करें। बहिष्कार करना हमारा अधिकार है। कोई संविधान या क़ानून इसे कभी रोक नहीं सकता है। हम कौन से उत्पाद या सेवाएँ इस्तेमाल करेंगे, यह हमारा व्यक्तिगत फैसला होता है। पूँजीवादी बुद्धिजीवी ही तो कहते हैं कि पूँजीवाद की ख़ूबसूरती यह है कि यह हर उत्पाद व सेवा के बहुत-से विकल्प देता है! सबके पास 'स्वतन्त्र चयन' का अधिकार होता है! इस पर भला पूँजीवाद कैसे रोक लगा सकता है!? हमें इस "अधिकार" का विवेकवान और समझदार तरीक़े से इस्तेमाल करना चाहिए और फ़िलिस्तीनी जनता, यानी वहाँ के मूल बाशिन्दों के लिए, चाहे वे मुसलमान हों, ईसाई हों या यहूदी हों, इन्साफ़ की लड़ाई में मदद करनी चाहिए। आज यही इन्सानियत का तकाज़ा है, यही हमारी मेहनतकश जमात का तकाज़ा है, यानी संवेदनशीलता और न्यायप्रियता का तकाज़ा है और यही क्रान्तिकारी नैतिकता का तकाज़ा भी है।

इस अंक के आख़िरी पेज पर हम फ़िलिस्तीनियों के इज़रायली नरसंहार में शामिल सबसे प्रातिनिधिक कम्पनियों की एक सूची दे रहे हैं। इन कम्पनियों का कोई भी उत्पाद या सेवा न ख़रीदें। इन सबके बहुत से विकल्प मौजूद हैं। पीछे के पेज पर ही एक क्यूआर कोड दिया गया है, जिसे अपने मोबाइल से स्कैन करने पर आपको विस्तृत बहिष्कार सूची और वैकल्पिक उत्पादों की सूची अपने मोबाइल पर मिल जायेगी। इस बहिष्कार आन्दोलन में भागीदारी कर अपने इन्सान होने का फ़र्ज़ निभाएँ, मज़दूर वर्ग की नैतिक ज़िम्मेदारी निभाएँ, मेहनतकशों की जमात की पक्षधरता जताएँ। ●

हैदराबाद की एक मज़दूर बस्ती नन्दा नगर में मज़दूरों की ज़िन्दगी की जद्दोजहद की एक तस्वीर

● मज़दूर बिगुल संवाददाता

किसी भी देश में पूँजीवादी विकास अपनी प्रकृति से ही क्षेत्रीय असमानता को बढ़ाता है। भारत के औपनिवेशिक अतीत और आज़ादी के बाद हुए पूँजीवादी विकास के फलस्वरूप यहाँ भी क्षेत्रीय असमानता की खाई बेहद स्पष्ट नज़र आती है। यहाँ तमाम बड़े व मझौले उद्योग-धन्धे चन्द महानगरों की परिधि पर स्थित औद्योगिक क्षेत्रों में सिमटे हुए हैं। हैदराबाद ऐसा ही एक महानगर है जहाँ नये-पुराने मिलाकर दर्जनों औद्योगिक क्षेत्र हैं। इन औद्योगिक क्षेत्रों में स्थित कल-कारख़ानों में देश के विभिन्न हिस्सों से आए मज़दूर अपना जाँगर खटाते हैं जिसकी बदौलत यहाँ छोटे नट-बोल्ट से लेकर हवाई जहाज तक के कल पुर्जे बनाये जाते हैं। गाँवों और सापेक्षत: पिछड़े इलाक़ों में काम न होने की वजह से मज़दूर बेहतर जीवन के तलाश में हैदराबाद जैसे महानगरों की तरफ़ रुख़ करने को मजबूर होते हैं। इस प्रकार हैदराबाद के औद्योगिक क्षेत्रों में भारत के विभिन्न हिस्सों से आये मज़दूर एक छत के नीचे काम करते हैं। भाषा और संस्कृति में तमाम भिन्नताएँ होने के बावजूद इन मज़दूरों के काम व जीवन की परिस्थितियाँ उनके बीच एकजुटता का आधार पैदा करती है।

हैदराबाद के उत्तर-पश्चिम में स्थित गाजुलारामारम-जीडीमेटला–गाँधी नगर इस शहर की एक विशाल औद्योगिक पट्टी है। यहाँ की फ़ैक्ट्रियों में मशीन पार्ट्स, जूस निकालने की मशीन, जनरेटर, मशीन पम्प, चूल्हे, कृषि सम्बन्धी उपकरण, फ़ार्मा और केमिकल प्रोडक्ट, एलपीजी गैस से सम्बन्धित उपकरण, फ़र्नीचर, प्लास्टिक प्रोडक्ट जैसे इलेक्ट्रिकल बॉक्स, पंखों, प्लास्टिक की बोतलों, सैनिटाइज़र, पैकिंग प्रोडक्ट आदि की मैन्युफ़ैक्चरिंग होती है। तेलंगाना के अन्य हिस्सों व अन्य राज्यों के मज़दूर पलायन करके काम की तलाश में इन इलाकों में आते हैं। इन औद्योगिक इलाक़ों में कई मज़दूर बस्तियाँ है। नन्दा नगर, गाँधी नगर औद्योगिक क्षेत्र से सटी ऐसी ही एक मज़दूर बस्ती है। यहाँ बसे मज़दूर आस-पास के औद्योगिक इलाक़ों जैसे गाजुलारामारम–जीडीमेटला–गाँधी नगर की फ़ैक्ट्रियों में काम करते हैं। कई स्थानीय मज़दूर जी.एच.एम.सी (ग्रेटर हैदराबाद नगर निगम) में सफ़ाई कर्मचारी का काम करते हैं। कुछ लोग ठेले पर फल–सब्ज़ी आदि बेचने व ऑटो चलाने का काम करते हैं। पढ़े-लिखे नौजवानों की बड़ी सख्या बेरोज़गार है और काम की तलाश में दर-दर की ठोकरें खाती है। कुछ नौजवान सेल्समैन, जी.एच.एम.सी. में क्लर्क, आस-पास के संस्थानो में हाउस-कीपिंग, चपरासी आदि के काम में लगे हैं।

नन्दा नगर बस्ती 1967 में पब्लिक सेक्टर कम्पनी हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (एच.एम.टी.) की हैदराबाद यूनिट की स्थापना के साथ अस्तित्व में आयी। भारत सरकार ने एच.एम. टी कम्पनी की हैदराबाद शाखा को स्थापित करने के लिए कुतुबुल्लापुर नामक इलाक़े में बसे लोगों को वहाँ से उजाड़कर बालानगर में गाँधी नगर औद्योगिक क्षेत्र के निकट नन्दा नगर जैसे इलाक़ों में ज़मीन दी। साथ ही कम्पनी ने कुछ स्थानीय लोगों को अपने यहाँ काम भी दिया। लेकिन कुतुबुल्लापुर से उजाड़े गये जिन लोगों को नन्दा नगर में ज़मीन मिली वह उनके नाम से पंजीकृत नहीं है। यानी सरकार नन्दा नगर की बसावट को अवैध घोषित करके लोगों को यहाँ से कभी भी उजाड़ सकती है। इस प्रकार यहाँ स्थानीय लोग हमेशा इस तनाव में जीते हैं कि उनकी रिहाइश पर कभी भी बुलडोज़र चल सकता है। रही बात एच.एम.टी. कम्पनी में मिले काम की तो 2016 में कम्पनी के दीवालिया घोषित होने के बाद बन्द होने पर मज़दूरों के हाथ से वह नौकरी भी चली गयी। इसलिए तमाम स्थानीय लोगों के लिए नियमित रूप से काम मिलना एक बहुत बड़ी समस्या है।

इस बस्ती में स्थानीय तेलुगूभाषी मज़दूरों के अलावा उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा व पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों से आने वाले प्रवासी मज़दूर भी बड़ी संख्या में रहते हैं। यहाँ रहने वाले पुरुष कुशल मज़दूरों को 8 से 10 घण्टे काम के लिए औसतन 30 दिन के काम के बदले 12 से 15 हज़ार का वेतन मिलता है। जबकि स्त्री मज़दूरों को महज़ 8 से 12 हज़ार वेतन मिलता है। अकुशल मज़दूरों को इससे भी कम तनख़्वाह मिलती है। आसमान छूती महँगाई के दौर में गैस सिलिण्डर, राशन–सब्ज़ी, बच्चों की शिक्षा, दवा -इलाज का ख़र्च पूरा करना मज़दूर परिवारों के लिए बेहद मुश्किल होता है। मज़दूरों को एक छोटे से कमरे के लिए 5 से 6 हज़ार रुपये किराये के देने पड़ते हैं। इस प्रकार मज़दूरों का आधा वेतन तो किराया देने में ही निकल जाता है और बाक़ी सभी ख़र्चों के लिए शेष आधा वेतन ही बचता है। इस वजह से मज़दूरों को हर महीने आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है।

इस बस्ती में पीने का पानी तीन दिन में एक बार शाम को डेढ़ घण्टे के लिए आता है। इस वजह से यहाँ हर घर में पानी जमा करने के लिए घर के बाहर और भीतर कई बड़े-बड़े ड्रम जगह छेके रहते हैं। इस प्रकार जमा पानी मच्छरों का स्रोत बन जाता है। बरसात के मौसम में पीने का पानी बहुत गन्दा होता है और यही टाइफ़ायड, मलेरिया व डेंगू जैसी बीमारियों का सबब बन जाता है। यहाँ सरकारी चिकित्सा के नाम पर नन्दा नगर में एक सरकारी डिस्पेन्सरी चलती है । यह सुबह 9:00 बजे से दोपहार 3:30 बजे तक चलती है। यह मज़दूरों के ड्यूटी का समय होता है। यानी इस डिस्पेन्सरी से मज़दूरों को कोई ख़ास लाभ नहीं होता है। इस बस्ती के आस-पास वेंकट रामी रेड्डी नगर, भगत सिंह नगर जैसी और भी कई बस्तियाँ हैं। इतनी बड़ी आबादी के लिए पास में कोई सरकारी अस्पताल नहीं है। अगर कोई आपातकालीन स्थिति हो तो लोगों को नन्दा नगर से क़रीब 15 किलोमीटर दूर गाँधी अस्पताल नामक एक सरकारी अस्पताल जाना पड़ता है। जो छोटे-मोटे प्राइवेट अस्पताल हैं वो इतने महँगे हैं कि मज़दूर वहाँ जाने के बारे में सोच भी नहीं सकते। सरकारी चिकित्सा के अभाव के चलते नन्दा नगर व आस पास के बस्तियों में झोला छाप डॉक्टरों के कई क्लीनिक मौजूद हैं। पिछली बरसात के समय संजय नाम के मज़दूर कोअपने बेटी के टाइफ़ायड के इलाज में 17 हज़ार रुपये इन्हीं झोला छाप डॉक्टरों के यहाँ ख़र्च करना पड़ा। ऐसे अनगिनत मामले होते हैं जहाँ मज़दूर अपने परिवार के इलाज में अपनी मेहनत की लगभग पूरी जमा पूँजी ख़र्च कर देते हैं।

इस इलाक़े में रहने वाली मेहनतकश आबादी के बच्चों के लिए शिक्षा का बुनियादी अधिकार बेमानी है। नन्दा नगर व आस-पास के मज़दूर रिहाइश के इलाक़ों के लिए यहाँ छठी से दसवीं के छात्रों के लिए सिर्फ़ दो सरकारी स्कूल हैं। एक गाँधी नगर में और दूसरा भगतसिंह नगर में। एक प्राथमिक स्कूल नन्दा नगर में चलता है। यह सरकारी शिक्षा व्यवस्था निहायत ही नाकाफ़ी है क्योंकि यहाँ हजारों की संख्या में मज़दूर परिवार रहते हैं। इन सरकारी स्कूलों में प्रवासी मज़दूरों के बच्चों को दाख़िला मिलना मुश्किल होता है। कई प्रवासी मज़दूरों के बच्चों के पास आधार कार्ड नहीं होने के चलते सरकारी स्कूल उन्हें दाखिला देने से मना कर देते हैं। हालाँकि तेलंगाना शिक्षा आयोग के अनुसार सरकारी स्कूल किसी भी बच्चे को आधार कार्ड नहीं होने के चलते दाख़िला देने से मना नहीं कर सकते हैं। फिर भी सरकारी स्कूल नियमों की धज्जियाँ उड़ाते हुए प्रवासी मज़दूरों के बच्चें को दाख़िला देने से मना कर देते हैं। जो प्राइवेट स्कूल चलते हैं वे मोटी फीस लेते हैं, जो प्रवासी मज़दूर नहीं दे पाते हैं। ऐसे में प्रवासी मज़दूरों के बच्चे अपना बचपन बिना स्कूली शिक्षा के दिन भर गली-मोहल्ले में घूमते हुए बिता देते हैं। इन बच्चों के लिए शिक्षा व्यवस्था के दरवाज़े बन्द है।

ऐसे माहौल में जहाँ मेहनतकश आबादी अपने बुनियादी अधिकारों के अभाव के चलते नारकीय स्थिति में रहती है, वहीं इस बस्ती में मौजूद पूँजीवादी पार्टियाँ लोगों को धार्मिक, जातिगत, क्षेत्रीय व भाषायी आधार पर बाँटने का काम करती हैं। नन्दा नगर बस्ती में यहाँ की जनता द्वारा चुना गया एक बस्ती लीडर है जो कहने को तो किसी भी चुनावी पार्टी से नहीं जुड़ा है। लेकिन इस बस्ती लीडर का झुकाव पहले बी.आर.एस पार्टी की ओर था और अब भाजपा की तरफ़। 2023 में नन्दा नगर के प्राथमिक विद्यालय की ज़मीन के एक बड़े हिस्से पर अवैध रूप से क़ब्ज़ा करके एक मन्दिर बनाया गया। इस बस्ती के मज़दूरों का ध्यान वास्तविक मुद्दों से भटकाने के लिए सरकारी ज़मीन पर कब्जा कर व मन्दिर निर्माण का काम इसी बस्ती लीडर के नेतृत्व में हुआ।

नन्दा नगर में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्म को मानने वाले लोगों की मिश्रित आबादी रहती है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से साम्प्रदायिक फ़ासीवादी पार्टी भाजपा इलाक़े में अपना आधार फैलाने के लिए क़िस्म-क़िस्म की साज़िशों के ज़रिये लोगों को साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण बढ़ाने का काम करती है। रामनवमी, हनुमान जयन्ती और गणेश चतुर्थी जैसे मौक़ों पर इलाक़े में विशालकाय मूर्तियाँ स्थापित करके कोने-कोने में बड़े-बड़े स्पीकर लगाकर लोगों में साम्प्रदायिक उन्माद की लहर पैदा की जाती है। हाल ही में, मार्च के महीने में इस इलाक़े में स्थित शिव मन्दिर में दो नशेड़ियों ने चोरी की। इस घटना के अगले दिन संघियों ने मन्दिर के बाहर न्याय के नाम पर नारेबाज़ी कर इस घटना को हिन्दू–मुस्लिम तनाव में बदल दिया। इसके बाद नन्दा नगर दो दिन के लिए पुलिस छावनी में तब्दील हो गया। हिन्दू–मुस्लिम ध्रुवीकरण को बढ़ाने के लिए मन्दिर के सीसीटीवी फुटेज से वीडियोज़ बनाकर नन्दा नगर के व्हाट्सेएप ग्रुप में शेयर किये गये। इसके साथ ही यह अफ़वाह फैलायी गयी कि मन्दिर में चप्पल पहन कर चोरी मुस्लिम ही कर सकता है। इस तरह से इस फ़ासीवादी दौर में बस्ती लीडर और यहाँ मौजूद फ़ासिस्ट ताक़तें यहाँ की जनता को बाँटने का काम कर रही है।

मेहनतकशों के जीवन की इस परेशान करने वाली तस्वीर में तभी बदलाव आ सकता है जब यहाँ के लोग एक क्रान्तिकारी पार्टी के बैनर तले एकजुट और लामबन्द हों। लेकिन फ़िलहाल ऐसी कोई पार्टी इस इलाक़े में नहीं मौजूद है। इस औद्योगिक इलाक़े में एक संशोधनवादी ट्रेड यूनियन एटक कई सालों से सक्रिय है। इस यूनियन के अधिकांश सदस्य स्थायी मज़दूर हैं। यह यूनियन गाँधी नगर औद्यगिक क्षेत्र के मज़दूरों को सिर्फ़ वेतन, बोनस-भत्ते जैसे आर्थिक माँगों की लड़ाई तक सीमित करके उनकी राजनीतिक चेतना को कुन्द करने का काम करती है। इसके अतिरिक्त यहाँ के प्रवासी मज़दूरों के बीच कोई भी यूनियन सक्रिय नहीं है।

नन्दा नगर में पिछले साल 28 सितम्बर को शहीदेआज़म भगतसिंह के जन्मदिवस के मौक़े पर कुछ युवाओं ने लोगों की मदद से शहीद भगतसिंह पुस्तकालय व सांस्कृतिक केन्द्र की शुरुआत की। इस पुस्तकालय में छोटे से लेकर बड़े बच्चों के लिए इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित और साहित्य-कला और देश-दुनिया के क्रान्तिकारियों की किताबें जुटायी गयी हैं। इसके अलावा बच्चों के खेलने के लिए खिलौने और खेलखूद के साजोसमान भी जुटाये जा रहे हैं। यहाँ नियमित रूप से बच्चों को शिक्षा में मदद की जाती है। प्रवासी मज़दूरों के जो बच्चे स्कूल जाने से वंचित रह जाते हैं वे भी इस पुस्तकालय में नियमित रूप से आते हैं। पुस्तकालय में पढ़ाई-लिखाई के अलावा बच्चों के बीच पेंटिंग, कविता-कहानी पाठ, नाटक, गीत-संगीत, फ़िल्म-शो जैसी गतिविधियाँ भी नियमित रूप से आयोजित की जाती हैं जिनमें बच्चे बढ़चढ़कर भागीदारी करते हैं। यह इस मज़दूर बस्ती में एक वैकल्पिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने का एक अनूठा प्रयास है। मज़दूरों के जो बच्चे दिनभर गली में घूमने-फिरने और मटरगश्ती करने में अपना समय बिताते थे वे अब बेसब्री से पुस्तकालय खुलने का इन्तज़ार करते हैं और अगर किसी वजह से पुस्तकालय नहीं खुलता है तो शिकायत करते हैं। इन बच्चों के माता-पिता भी पुस्तकालय खुलने के बाद से अपने बच्चों के व्यक्तित्व में आये बदलाव को देखकर ताज्जुब करते हैं। इस इलाक़े में किये गये इस छोटे-से प्रयोग से इतना स्पष्ट है कि यदि मज़दूर बस्तियों में व्यवस्थित तरीक़े से ऐसी संस्थाओं का ताना-बाना खड़ा किया जाये तो भविष्य में अहम बदलावों की नींव तैयार की जा सकती है और मेहनतकशों की ज़िन्दगी की तस्वीर बदल सकती है।

मज़दूर आन्दोलन में मौजूद किन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग का लड़ना ज़रूरी है?

क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा!

(बारहवीं क़िस्त)

● शिवानी

इस शृंखला में हमने अब तक मज़दूर आन्दोलन के भीतर मौजूद अर्थवाद की प्रवृत्ति के विषय में अपने विचार रखे। मुख्य तौर पर हमने इस प्रश्न पर मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक लेनिन के विचारों को ही प्रस्तुत करने का काम किया है। दरअसल अर्थवाद के विरुद्ध समझौताविहीन संघर्ष चलाने का श्रेय सबसे अधिक लेनिन को ही जाता है जिन्होंने रूसी अर्थवादियों के खिलाफ़ इस विचारधारात्मक संघर्ष के दौरान ही क्रान्तिकारी पार्टी की अवधारणा को भी सुपरिभाषित और व्याख्यायित किया। पार्टी की यह लेनिनवादी अवधारणा आज भी दुनिया भर के कम्युनिस्टों के लिए मार्गदर्शन का काम करती है। इसके साथ ही लेनिन के विचार अर्थवाद की ख़तरनाक प्रवृत्ति के विरुद्ध हमें सचेतन तौर पर निर्मम संघर्ष चलाने के लिए आज भी प्रेरित करते हैं।

लेनिन अर्थवादी प्रवृत्ति के दुष्परिणामों को रूस के मज़दूर आन्दोलन में प्रकट होते हुए देख रहे थे और समझ रहे थे कि रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन के समक्ष यह न सिर्फ़ एक बहुत बड़ी चुनौती है बल्कि यह रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन के पिछड़ेपन के सबसे अहम कारणों में से एक कारण भी है। यही नहीं, लेनिन का स्पष्ट तौर पर मानना था कि अर्थवाद दरअसल मज़दूर आन्दोलन में बर्जुआ विचारधारा और राजनीति की ही नुमाइन्दगी करता है और क्रान्तिकारी सर्वहारा विचारधारा के विरुद्ध खड़ा है।

पिछली किश्त में हमने एक अखिल-रूसी मज़दूर अख़बार की अपरिहार्य आवश्यकता पर लेनिन के विचार प्रस्तुत किए थे। अपनी रचना **'क्या करें?'** में लेनिन दो उपमाओं का प्रयोग करके क्रान्तिकारी सर्वहारा आन्दोलन को संगठित करने के लिए और एक अखिल-रूसी केन्द्रीकृत पार्टी के निर्माण के लिए एक ऐसे अख़बार की ज़रूरत पर ज़ोर देते हैं। लेनिन इस विषय पर अपने विचार रखते हुए बताते हैं कि एक ऐसा अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार वह मुख्य सूत्र होना चाहिए जिसके सहारे क्रान्तिकारी संगठन को विकसित किया जा सकता है। इसी संदर्भ मे लेनिन राजगीरों द्वारा ईंटें बिछाते वक़्त इस्तेमाल की गयी डोरी का उदाहरण देते हैं, जिस डोरी की मदद से बिछायी गयी ईंटें एक साथ जुड़कर एक पूर्ण और सबको साथ मिलाकर चलनेवाली रेखा बन जाते हैं। इसके साथ ही लेनिन इस ज़रूरी बात को दुहराते हैं कि **अख़बार न केवल सामूहिक प्रचारक और सामूहिक उद्वेलक का, बल्कि सामूहिक संगठनकर्ता का भी काम करता है।** इस दृष्टि से **उसकी तुलना एक निर्माणाधीन इमारत के इर्द-गिर्द बाँधे गये पाड़ (स्कैफ़ोल्डिंग) से की जा सकती है जिसके बग़ैर क्रान्तिकारी संगठन की इमारत बनाने की बात वर्तमान समय में सोची भी नहीं जा सकती।**

लेनिन वास्तव में इस चर्चा के दौरान सांगठनिक मामलों मे भी अर्थवादियों की संकीर्णता और नौसिखुएपन तथा गतिविधियों के दायरे में उनके संकुचित दृष्टिकोण और व्यवहार को उजागर कर रहे थे। साथ ही, अर्थवादियों के स्थानीयतावाद को भी लेनिन यहाँ बेनक़ाब कर रहे थे जो केन्द्रीय व अखिल-रूसी कामों के बरक्स स्थानीय कामों की ज़रूरत को ग़ैर-द्वन्द्वात्मक तरीक़े से बार-बार आगे करते थे और इसी कारण से एक अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार की आवश्यकता को नज़रअन्दाज़ करते थे। **अर्थवाद ट्रेड यूनियनवादी राजनीति को ही चूँकि मज़दूर वर्ग की क्रियाशीलता का फ़लक समझता है, इसलिए वह समस्त क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए बेहद संकीर्ण उद्देश्य निर्धारित करता है और स्थानीय कामों को ही समस्त कार्यवाई के क्षितिज के तौर पर देखता है। यही कारण है कि वस्तुगत तौर पर क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी की भूमिका अर्थवादियों के लिए कोई विशेष अहमियत नहीं रखती है।**

लेनिन बताते हैं कि अर्थवादी चूँकि सचेतनता की जगह स्वतःस्फूर्तता के पूजक होते हैं, यही वजह है कि वे सांगठनिक मामलों में भी सचेतन प्रयासों की अनदेखी करते हैं और लगातार कामों के दायरे को संकुचित बनाते जाते हैं। चूँकि अर्थवादी ट्रेड यूनियन कार्यवाइयों को ही सबसे ज़रूरी काम मानते हैं, इसलिए कामों का दायरा उनके लिए संकुचित होना लाज़मी है। लेनिन बताते हैं कि अर्थवादियों ने जिन कामों को अपने लिए चिन्हित किया है, मसलन स्थानीय अख़बार का प्रकाशन, प्रदर्शनों की तैयारियाँ और बेरोज़गारों के बीच काम, ये सभी कार्य वास्तविक अर्थों में अर्थवादियों की संकीर्णता को ही दिखलाते हैं। कामों के प्रति यह संकुचित दृष्टिकोण और साथ ही गतिविधियों का संकुचित दायरा और अधिक गम्भीर रूप तब ले लेता है जब स्थानीय संगठनों में ही बन्द रहने वाले कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के अभाव के कारण उनके दृष्टिकोण और गतिविधि का संकुचित रहना आवश्यभावी बन जाता है। इस स्थानीयतावाद ने पलटकर अर्थवाद और नौसिखुएपन की प्रवृत्ति को और बढ़ावा दिया था। लेनिन लिखते हैं:

> **"जिस चीज़ की हमें सबसे अधिक, सबसे पहले और तत्काल आवश्यकता है, वह यह है कि हम काम के दायरे को फैलायें, और नियमित और साझा काम के आधार पर विभिन्न शहरों के बीच वास्तविक सम्पर्क क़ायम करें, क्योंकि बिखराव हमारे लोगों के गले में चक्की के पाट की तरह लटका हुआ है**, जो (*इस्क्रा* के एक संवाददाता के शब्दों में) "गड्ढे में फँस गये हैं", उन्हें पता नहीं है कि दुनिया में क्या हो रहा है, कि उन्हें किससे सीखना है और यह कि अनुभव संचय करने और व्यापक ढंग से कार्य करने की अपनी इच्छा को पूरा करने का क्या तरीक़ा है। **मैं फिर ज़ोर देकर कहता हूँ कि वास्तविक सम्पर्क क़ायम करना केवल एक साझा अख़बार के द्वारा ही शुरू किया जा सकता है, क्योंकि वही एक ऐसा नियमित अखिल-रूसी उद्यम हो सकता है, जो विविध प्रकार के कार्यों के परिणामों का सारतत्व निकालकर उसे सबके सामने पेश करेगा और इस तरह जनता को उन तमाम अनगिनत राहों पर अथक गति से चलने के लिए प्रेरित करेगा, जो सबकी सब उसी तरह क्रान्ति की ओर ले जाती हैं, जैसे तमाम सड़कें रोम को जाती हैं।** यदि हम केवल नाम के लिए एकता नहीं चाहते, तो हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे प्रत्येक स्थानीय अध्ययन मण्डल तुरन्त अपनी, मान लीजिये, चौथाई शक्तियों को साझा उद्देश्य में सक्रिय रूप से लगाने के लिए अलग कर दे और तब अख़बार तुरन्त ही इस कार्यभार की आम रूप-रेखा, उसका दायरा और स्वरूप उसके सामने पेश करने लगेगा, उसे सटीक तौर पर बतायेगा कि अखिल-रूसी कार्य मे सबसे ज़्यादा कौन-सी खामियाँ महसूस की जा रही हैं, उद्वेलन में कहाँ कमी है, सम्पर्क कहाँ कमज़ोर हैं और इस विशालकाय आम मशीन में कहाँ और कौन-से पहिये ऐसे हैं, जिनकी वह अध्ययन मण्डल मरम्मत कर सकता है या जिनकी जगह बेहतर पुरज़े लगा सकता है। तब कोई ऐसा अध्ययन मण्डल, जिसने अभी काम शुरू नहीं किया है, लेकिन जो काम की तलाश कर रहा है, तब वह, एक अलग छोटे-से कारखाने में काम करनेवाले उस कारीगर की तरह नहीं, जिसे इसका कोई इल्म नहीं है कि उससे पहले "उद्योग" का कितना विकास हो चुका है या उद्योग में प्रचलित उत्पादन के तरीक़ों का आम स्तर क्या है, बल्कि वह एक ऐसे विशाल व्यवसाय के एक साझीदार की तरह काम शुरू कर सकता है, जो निरंकुश शासन के खिलाफ़ सम्पूर्ण आम क्रान्तिकारी आक्रमण का सूचक होगा। इस विशाल यन्त्र का प्रत्येक पुरज़ा जितना ही निर्विकार होगा, साझा उद्देश्य के लिए छोटे-छोटे अनेक काम करनेवालों की संख्या जितनी ही बड़ी होगी, उतना ही हमारा जाल - हमारा संगठन - अधिक सुगठित होता जायेगा और तब पुलिस के अवश्यम्भावी छापों से हमारी पाँतों मे उतनी ही कम अव्यवस्था और निराशा फैलेगी।" (*ज़ोर हमारा*)

लेनिन स्पष्ट करते हैं कि इस अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार के वितरण के दौरान ही वास्तविक सम्पर्क क़ायम होने लगेंगे। साथ ही, अलग-अलग शहरों के बीच भी संचार एक नियम बन जायेगा, जोकि अभी अपवादस्वरूप ही होता है और इसके ज़रिये न सिर्फ़ अख़बार का वितरण होगा बल्कि अनुभव, सामग्री, शक्तियों और संसाधनों का आदान-प्रदान भी सम्भव हो सकेगा। सांगठानिक काम का दायरा पहले से कहीं ज़्यादा विस्तार प्राप्त कर लेगा और एक जगह मिली सफलता और अधिक पूर्णता और दक्षता प्राप्त करने की प्रेरणा बन जायेगी और देश के अन्य भागों में काम करने वाले साथियों के अनुभव का उपयोग करने की इच्छा को जागृत करेगी। लेनिन के अनुसार ऐसी स्थिति में स्थानीय काम आज से कहीं अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण बन जायेगा। **पूरे रूस से इक्कट्ठी की गयी राजनीतिक और आर्थिक भण्डाफोड़ की सामग्री मज़दूरों को बौद्धिक ख़ुराक मुहैया करायेगी। लेनिन बताते हैं कि अख़बार में प्रकाशित सामग्री विविध विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत करेगी। इसके अलावा हर प्रदर्शन और हर विस्फोट के सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श भी प्रस्तुत किया जायेगा। कुलमिलाकर कहा जाये तो सभी गतिविधियों मे सचेतनता का तत्व बढ़ता जायेगा और स्वतःस्फूर्तता का तत्व कम होता जायेगा।** लेनिन निष्कर्ष के तौर पर लिखते हैं:

> "यदि हम सचमुच ऐसी हालत पैदा करने में सफल हो जायें, जिसमें सभी, या कम से कम अधिकतर स्थानीय समितियाँ, स्थानीय दल और अध्ययन मण्डल सामान्य उद्देश्य के लिए सक्रिय काम करने लगें, तो हम निकट भविष्य में ही एक ऐसा साप्ताहिक अख़बार प्रकाशित कर सकेंगे, जिसकी दसियों हज़ार प्रतियाँ रूस भर में नियमित रूप से वितरित हुआ करेंगी। **यह अख़बार एक ऐसी बड़ी धौंकनी का हिस्सा बन जायेगा, जो वर्ग संघर्ष और जन आक्रोश की प्रत्येक चिंगारी को सुलगाकर धधकती हुई आग में बदल देगी।** एक ऐसी चीज़ के इर्द-गिर्द, जो अभी फ़िलहाल अपने आप में अहानिकर और बहुत बड़ी नहीं है, लेकिन जो एक नियमित और अपने सम्पूर्ण अर्थ में *साझा* प्रयास है, परखे हुए योद्धाओं की एक स्थायी सेना नियमबद्ध तरीक़े से जमा होती जायेगी और लड़ने का प्रशिक्षण प्राप्त करती जायेगी। **इस आम सांगठनिक ढाँचे की सीढ़ियों और पाड़ के सहारे शीघ्र ही हमारे क्रान्तिकारियों में से सामाजिक-जनवादी ज़ेल्याबोव जैसे और हमारे मज़दूरों में से रूसी बेबेल जैसे लोग पैदा होने और सामने आने लगेंगे, वे पूरी जत्थेबन्द सेना का नेतृत्व अपने हाथों मे सँभाल लेंगे तथा रूस के कलंक और अभिशाप से हिसाब चुकाने के लिए देश की समस्त जनता को जगायेंगे।**
>
> "इसी का हमें स्वप्न देखना चाहिए!" (*ज़ोर हमारा*)

लेनिन द्वारा एक अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार की ज़रूरत पर ज़ोर देना अर्थवादियों के साथ विचारधारात्मक संघर्ष में एक बेहद अहम बिन्दु था। यह अर्थवादियों के राजनीतिक गतिविधियों के मामले में संकीर्ण दृष्टिकोण पर क्रान्तिकारी प्रहार था। अर्थवादी किसी भी अखिल-रूसी उपक्रम या उद्देश्य की वांछनीयता को सिरे से ख़ारिज करते थे और मज़दूर वर्ग एक व्यापक राजनीतिक नज़रिया विकसित कर सके, इस कार्यभार में हर सम्भव रुकावट पैदा करने का प्रयास अपने अर्थवादी विचारों के प्रदूषण के द्वारा करते थे। अर्थवादी अखिल-रूसी अख़बार की इस्क्रावादी परियोजना को "कुर्सीतोड़ों के विचारों का प्रचार करने और कुर्सीतोड़ों की कार्यवाई" की संज्ञा देते थे। लेनिन इस अर्थवादी "समझदारी" का अपनी रचना **'क्या करें?'** में खूब मखौल उड़ाते हैं:

> "यह भी सचमुच कैसा कल्पनातीत गड़बड़-घोटाला है : एक तरफ़ तो उत्तेजनात्मक आतंकवादी कार्य तथा "औसत मजदूरों के संगठन" के साथ-साथ यह राय कि स्थानीय अख़बार जैसी "थोड़ी और ठोस" चीज़ के गिर्द लोगों को जमा करना कहीं "ज़्यादा आसान" है और दूसरी तरफ़, यह ख़्याल कि "इस वक़्त" एक अखिल-रूसी संगठन की बात करना कुर्सीतोड़ों के विचारों का प्रचार करना है, या स्पष्ट और दो-टूक शब्दों में "इस वक़्त" इस काम के लिए बहुत देरी हो गयी है! लेकिन फिर "स्थानीय अखबारों के व्यापक संगठन" का क्या होगा, प्रिय नदेज़्दिन महाशय (ल. नदेज़्दिन अपने प्रारम्भिक जीवन में नरोदवादी थे, बाद मे वह सामाजिक-जनवादी बने; हालाँकि अपने लेखन मे इन्होंने अर्थवादियों का समर्थन किया और साथ ही आतंकवाद को जनता को जागृत करने का एक प्रभावी साधन बताया; लेनिन के नेतृत्व में निकालने वाले *इस्क्रा* का विरोध किया – *लेखिका*) क्या उसके लिए बहुत देरी नहीं हो गयी है? और **इस दृष्टिकोण के साथ *इस्क्रा* के दृष्टिकोण तथा कार्यनीति की तुलना कीजिये: उत्तेजनात्मक आतंकवादी कार्य की बात बकवास है, औसत मज़दूरों का संगठन बनाने और स्थानीय अखबारों के व्यापक संगठन की बात करने का मतलब अर्थवाद के लिए एकदम दरवाज़ा खोल देना हैं। हमें क्रान्तिकारियों के एक ही अखिल-रूसी संगठन की बात करनी चाहिए और जब तक वह सच्ची चढ़ाई – कागज़ी चढ़ाई नहीं – शुरू नहीं हो जाती, तब तक उसकी बात करना कभी बहुत देर की चीज़ नहीं होगा।"** (*ज़ोर हमारा*)

लेनिन दुहराते हैं कि यह वास्तव में अर्थवादियों की स्वतःस्फूर्तता की पूजा करने की प्रवृत्ति ही है जो उन्हें हर सचेतन तौर पर व्यवस्थित और संगठित काम करने से रोकती है। अर्थवादियों का तर्क होता है कि ऐसा करके वे जनता के स्वतःस्फूर्त उभार से कट जायेंगे, जनता से अलग-थलग पड़ जायेंगे। जबकि वास्तविक बात यह है कि केवल चौतरफ़ा और सर्वांगीण

(पेज 23 पर जारी)

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला – 25

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (खण्ड-2)

अध्याय – 1 (जारी)

पूँजी के परिपथ (सर्किट)

● अभिनव

दूसरा चरण : उत्पादक-पूँजी (...P...)

यह दूसरा चरण पहले चरण यानी M – C के पूरा होने के साथ शुरू होता है। पहले चरण के पूरा होने के साथ पूँजीपति के हाथ में उत्पादन के साधन और श्रमशक्ति होते हैं। ये माल ही उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादक पूँजी के तत्वों की भूमिका निभाते हैं। मुद्रा पूँजी के परिपथ के अगले चरण को हम इस रूप में देख सकते हैं:

$$\mathbf{M - C <^{L}_{mp} \ldots P}$$

यहाँ पर ये बिन्दु (...) इस बात का द्योतक हैं कि परिचलन या संचरण की प्रक्रिया, यानी बेचने-ख़रीदने की प्रक्रिया बाधित हो रही है। यह एक अनिवार्य बाधा है, क्योंकि मुद्रा-पूँजी अपने उद्देश्य यानी मूल्य-संवर्धन और बेशी मूल्य के उत्पादन को अंजाम तभी दे सकती है, जब वह उत्पादन के चरण से गुज़रे। पूँजीपति ज़रूर ही ऐसी स्थिति पसन्द करेंगे जिसमें वह उत्पादन की प्रक्रिया के बिना ही अपनी पूँजी को बढ़ा सकें, यानी मुनाफ़ा बटोर सकें। यानी, बस वे माल को सस्ता ख़रीदें और महँगा बेच दें। औद्योगिक पूँजीपति का यह गुलाबी सपना व्यापारिक पूँजीपति का वास्तविक भ्रम भी होता है, क्योंकि उसे वाकई लगता है कि उसके मुनाफ़े का स्रोत उसके द्वारा चालाकी से सस्ता ख़रीदना और महँगा बेचना है! और सूदखोर पूँजीपति तो माल-अन्धभक्ति की उच्चतम अवस्था में होता है क्योंकि उसे यह लगता है कि मुद्रा-पूँजी को माल-पूँजी के रूप से गुज़रने की भी आवश्यकता नहीं है, वह तो बस पैसे से पैसा बना सकता है! लेकिन उत्पादन के क्षेत्र के बाहर मौजूद इस वैयक्तिक पूँजीपतियों के इस भ्रम को छोड़ दें, तो यह स्पष्ट है कि मुद्रा-पूँजी के माल-पूँजी में तब्दील होने और फिर उत्पादक-पूँजी में तब्दील होने के चरणों के बिना पूँजी अपना मूल उद्देश्य पूरा नहीं कर सकती, यानी, बेशी मूल्य का उत्पादन। मुद्रा-पूँजी को बेशी मूल्य के उत्पादन में सक्षम बनने के लिए विशिष्ट मालों का रूप लेना ही होता है और इन विशिष्ट मालों को उत्पादक-पूँजी का तत्व बनना ही होता है; यूँ समझ लें कि यह उसका अभिशाप है।

उत्पादक-पूँजी के इस चरण को समझने के लिए पहले चरण की कुछ चारित्रिक अभिलाक्षणिकताओं का ज़िक्र यहाँ ज़रूरी है, इसलिए हम वहीं से शुरू करेंगे।

मुद्रा-पूँजी के परिपथ का पहला चरण, यानी M – C (मुद्रा – माल) पूरा होने के साथ पूँजीपति के हाथ में दो ऐसे माल होते हैं, जो अपने नैसर्गिक रूप में उत्पादक उपभोग में ही लगाये जा सकते हैं। उनका सीधे वैयक्तिक उपभोग नहीं किया जा सकता है। प्रकृति से ही वे उत्पादक उपभोग हेतु ही इस्तेमाल किये जा सकते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, ये दो माल हैं श्रमशक्ति और उत्पादन के साधन। हम क्यों कह रहे हैं कि नैसर्गिक रूप में इन मालों का इस्तेमाल केवल उत्पादक उपभोग में ही हो सकता है? मिसाल के तौर पर, पूँजीपति श्रमशक्ति को ख़रीदने के बाद ज्यों का त्यों उसे किसी और को बेच नहीं सकता है। यानी श्रमशक्ति को ख़रीदने के बाद वह मज़दूर को किसी अन्य व्यक्ति को नहीं बेच सकता है क्योंकि उजरती मज़दूर प्राचीन युग के ग़ुलामों से अलग होता है। वह स्वयं किसी की सम्पत्ति नहीं होता बल्कि वह स्वयं एक विशिष्ट माल यानी श्रमशक्ति का स्वामी होता है। वह *एक निश्चित समय के लिए* अपनी श्रमशक्ति को पूँजीपति को बेचता है। इसलिए पूँजीपति श्रमशक्ति ख़रीदने के बाद मज़दूर को किसी और को नहीं बेच सकता है। पूँजीपति इस माल यानी श्रमशक्ति का एक ही उपयोग कर सकता है : उसे अन्य मालों के उत्पादन में लगाना, यानी उत्पादक उपभोग में उसे ख़र्च करना।

उसी प्रकार, उत्पादन के साधनों को भी पूँजीपति ख़रीदने के बाद ज्यों का त्यों उनकी क़ीमत से ऊँची क़ीमत पर नहीं बेच सकता है। उनका भी एक ही उपयोग हो सकता है : अन्य मालों के उत्पादन में ख़र्च किया जाना यानी उत्पादक उपभोग में ख़र्च किया जाना। श्रमशक्ति का उपयोग, यानी जीवित श्रम, अपनी प्रकृति से ही केवल उत्पादन की प्रक्रिया में ही वास्तवीकृत हो सकता है, उसका और कोई उपयोग नहीं हो सकता। उत्पादन के साधन भी उत्पादन की प्रक्रिया में ही ख़र्च हो सकते हैं। उनका भी कोई और उपयोग नहीं हो सकता। मतलब, वैयक्तिक उपभोक्ता उसका सीधे उपभोग नहीं कर सकते हैं। यानी पहले चरण के पूर्ण होने के साथ दूसरे चरण में उत्पादन की प्रक्रिया के साथ ही पूँजी का परिपथ आगे बढ़ सकता है। यह पहला चरण दूसरे चरण की पृष्ठभूमि या पूर्वपीठिका ही तैयार करता है। इसके साथ पूँजी का संचरण की पहली मंज़िल से दूसरी मंज़िल यानी उत्पादन के चरण में प्रवेश होता है। यहाँ पर पूँजी उत्पादक पूँजी का रूप लेती है, यानी उत्पादन की प्रक्रिया में सक्रिय तत्वों का रूप लेती है। जैसा कि हमने देखा, ये तत्व हैं श्रमशक्ति और उत्पादन के साधन।

पूँजीपति पहले चरण में मूल्यों की एक निश्चित मात्रा के स्वामी के रूप में प्रकट होता है, लेकिन *किसी भी रूप में नहीं, बल्कि मुद्रा-रूप में।* वह मुद्रा-रूप में, यानी मुद्रा की एक निश्चित राशि के रूप में, मूल्यों के स्वामी के रूप में प्रकट होता है। क्योंकि इसी के ज़रिये वह अन्य पूँजीपतियों से उत्पादन के साधन और श्रम बाज़ार में मज़दूरों से उनकी श्रमशक्ति को एक निश्चित मात्रा और अनुपात में ख़रीद सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक पूँजीपति के रूप में उसके मुद्रा के स्वामी होने का एक ही उद्देश्य और अर्थ होता है : इस मुद्रा को श्रमशक्ति व उत्पादन के साधनों को ख़रीदने पर ख़र्च करना ताकि उनके उत्पादक उपभोग के ज़रिये मूल मुद्रा-पूँजी के मूल्य से ज़्यादा मूल्य के मालों का उत्पादन किया जा सके, उसे बेचा जा सके और वापस पहले से अधिक मुद्रा को हासिल किया जा सके। यानी, इस पहली कार्रवाई का अर्थ ही यह है कि वह एक *पूँजीवादी माल उत्पादक के रूप में* मुद्रा-पूँजीपति के तौर पर बाज़ार में प्रकट होता है, न कि किसी व्यापारी या सूदखोर के रूप में।

मज़दूर के लिए यह पहला चरण L – M यानी श्रमशक्ति – मुद्रा के रूप में प्रकट होता है। यानी वह अपना विशिष्ट माल यानी L या श्रमशक्ति मुद्रा की एक निश्चित मात्रा, यानी मज़दूरी, के बदले पूँजीपति को बेचता है। इस मुद्रा से वह अपनी श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक मालों को ख़रीदता है। उसके लिए यह प्रक्रिया L – M – C के रूप में, यानी 'माल – मुद्रा – माल' के रूप में प्रकट होती है। अपनी श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक है कि वह रोज़ मज़दूरी-उत्पादों का उपभोग करे और इसलिए उसे छोटे अन्तरालों पर, यानी सप्ताह या महीने पर, मज़दूरी का भुगतान होता रहे। इसके लिए ज़रूरी है कि श्रम बाज़ार में उसका सामना निरन्तर मुद्रा के स्वामी पूँजीपति से होते रहना चाहिए।

इसके अलावा, L – M – C की प्रक्रिया के सुचारू रूप से चलने के लिए यह भी आवश्यक होता है कि बाज़ार में मज़दूर को मज़दूरी-उत्पाद पहले से मौजूद मिलें और *मालों के रूप में मौजूद मिलें।* मार्क्स बताते हैं कि यह तभी सम्भव है जब माल उत्पादन समाज में प्रमुख प्रवृत्ति बन गया हो। यानी, उजरती श्रम के शोषण द्वारा मालों का उत्पादन प्रमुख प्रवृत्ति उसी हद तक बन सकता है, जिस हद तक माल उत्पादन समाज में प्रमुख प्रवृत्ति बन चुका हो। इसका एक अन्य उपजात भी होता है। माल उत्पादन की प्रवृत्ति के हावी होने के साथ समाज में श्रम का विभाजन, यानी सामाजिक उत्पादन का अलग-अलग शाखाओं में विभाजन, भी बढ़ता जाता है। पहले उत्पादन की जो प्रक्रियाएँ एक साथ सम्बद्ध रूप में जारी थीं, वे अलग-अलग शाखाओं व उपशाखाओं में बँटती जाती हैं। इसी के साथ उत्पादन के साधनों का उत्पादन और अन्य मालों का उत्पादन भी अलग होता जाता है, जिसे मार्क्स मोटे तौर पर उत्पादन का दो विभागों में बँटना बताते हैं, यानी विभाग-I जो उत्पादन के साधनों का उत्पादन करता है और विभाग-II जो उपभोग की वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्पादन के साधनों का उत्पादन भी मालों के रूप में ही होता है और वैयक्तिक उपभोग में जाने वाले मालों के उत्पादन में इन उत्पादन के साधनों का इस्तेमाल करने वाले पूँजीपति उन्हें अन्य पूँजीपतियों से मालों के रूप में ही ख़रीदते हैं, लेकिन व्यक्तिगत उपभोग के लिए नहीं बल्कि उत्पादक उपभोग के लिए। यानी, हरेक पूँजीपति के लिए उनके माल उत्पादन की स्थितियाँ, यानी उसमें लगने वाले उत्पादन के साधन, भी बाज़ार में अन्य पूँजीपतियों द्वारा पैदा मालों के रूप में ही प्रकट होती हैं।

मार्क्स बताते हैं कि उपरोक्त परिवर्तनों के साथ पूँजीवादी माल उत्पादन प्रमुख प्रवृत्ति बनती जाती है और साधारण माल उत्पादन तथा उत्पादन की अन्य प्राक्-पूँजीवादी व्यवस्थाएँ नष्ट होती जाती हैं। जो स्थितियाँ उजरती श्रम के शोषण द्वारा उत्पादन को प्रमुख प्रवृत्ति बनाती जाती हैं, वे ही प्रवृत्तियाँ प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन पद्धतियों के विघटन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान करती हैं। प्राकृतिक गुज़ारा उत्पादन, जिसमें उत्पादक अपने प्रत्यक्ष उपभोग के लिए उपयोगी चीज़ों का उत्पादन करता था, और केवल आपवादिक तौर पर आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को ही मालों में तब्दील करता था, यानी बेचता था, विघटित होता जाता है। उसी प्रकार, साधारण माल उत्पादन जिसमें प्रत्यक्ष उत्पादक अपने व अपने पारिवारिक श्रम से ही मालों का उत्पादन करता है, भी विघटित होता जाता है। यानी प्राकृतिक गुज़ारा उत्पादन तेज़ी से माल उत्पादन में तब्दील होता जाता है और साधारण माल उत्पादन तेज़ी से पूँजीवादी माल उत्पादन में तब्दील होता जाता है। मार्क्स लिखते हैं:

> "दूसरी ओर, वही परिस्थिति जो पूँजीवादी उत्पादन की बुनियादी पूर्वशर्त यानी उजरती श्रमिकों के वर्ग के अस्तित्व को जन्म देती है, समूचे माल उत्पादन को पूँजीवादी माल उत्पादन में तब्दील होने की प्रक्रिया को भी बढ़ावा देती है। जिस हद तक पूँजीवादी माल उत्पादन विकसित होता है, उसका उत्पादन के अन्य सभी पुराने रूपों पर विनाशकारी और विसर्जनकारी प्रभाव पड़ता है, जिनका प्रमुख लक्ष्य उत्पादकों की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति हुआ करता था, जो केवल अतिरिक्त उत्पादों को ही मालों में तब्दील करते थे। यह उत्पाद की बिक्री को प्रमुख रुचि का मसला बना देता है, हालाँकि ऐसा करते हुए पहले से ही वह उत्पादन की पद्धति पर आक्रमण नहीं करता... लेकिन जब यह जड़ें जमा लेता है तो यह माल उत्पादन के उन सभी रूपों को तबाह कर देता है जो उत्पादक के अपने श्रम पर, केवल अतिरिक्त उत्पाद की माल के तौर पर बिक्री पर आधारित होते हैं। *यह पहले माल उत्पादन को सार्वभौमिक बना देता है और फिर धीरे-धीरे समस्त माल उत्पादन को पूँजीवादी उत्पादन में तब्दील कर देता है।*" (मार्क्स, कार्ल. 1992. *पूँजी, खण्ड-2,* अंग्रेज़ी संस्करण, पेंगुइन, लन्दन, पृ. 119-120, *अनुवाद और ज़ोर हमारा*)

मार्क्स ऊपर जिस प्रक्रिया का वर्णन कर रहे हैं, वह उनके द्वारा मनोगत तौर पर बनाया गया कोई स्कीमा या विकास-पथ नहीं है। वास्तव में, यह प्रक्रिया वास्तविक ऐतिहासिक विकास में स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती है। अलग-अलग देशों में यह अलग-अलग रूप अवश्य लेती है; अलग-अलग देशों में उनकी अलग-अलग गतियाँ और उनके घटित होने के अलग-अलग कालखण्ड भी रहे हैं। लेकिन, मूलत: और मुख्यत:, ये प्रक्रिया ही हमें दुनिया भर में देखने को मिलती है। निश्चित तौर पर, एक बार जब विश्व बाज़ार अस्तित्व में आ जाता है, वाणिज्य और व्यापार तथा माल उत्पादन का विचारणीय स्तर तक विकास हो जाता है तो अलग-अलग देशों में होने वाले परिवर्तन एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं और इस प्रभाव के कारण भी कुछ देशों में पूँजीवादी माल उत्पादन की प्रक्रिया कहीं त्वरित तो कहीं बाधित व खण्डित होती है। लेकिन पूँजीवादी माल उत्पादन की प्रकृति और स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह अलग-अलग रास्तों से पूरी दुनिया को अपने मातहत कर लेता है। इसीलिए मार्क्स ने पूँजीवादी को सही मायने में पहली वैश्विक उत्पादन पद्धति कहा था। आगे बढ़ते हैं।

मार्क्स बताते हैं कि चाहे कोई भी उत्पादन पद्धति हो, उसके दो बुनियादी तत्व होते हैं श्रमशक्ति और उत्पादन के साधन। श्रमशक्ति और उत्पादन के साधन जिस रूप में उत्पादन के लिए साथ आते हैं, वही उत्पादन पद्धति की प्रकृति को निर्धारित करता है। दास उत्पादन पद्धति के दौर में दास स्वयं दास-स्वामियों की सम्पत्ति थे। उत्पादन की प्रक्रिया के बाहर भी उनके श्रम और

(पेज 20 पर जारी)

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(पेज 19 से आगे)

अस्तित्व का स्वामी दास-स्वामी वर्ग ही था। सामन्ती उत्पादन पद्धति के दौर में निर्भर किसान के पास और अक्सर भूदासों के पास उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण होता था और सामन्ती ज़मीन्दार आर्थिकेतर उत्पीड़न के ज़रिये उनके बेशी श्रम को किसी न किसी रूप में विनियोजित करता था, चाहे श्रम-रूप में ही यानी उनसे अपनी ज़मीन पर बेगार करवाकर, या जिंस-रूप में या फिर मुद्रा-रूप में। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में उजरती मज़दूरों का वर्ग, उत्पादन व उपभोग के साधनों से वंचित होता है; उसकी श्रमशक्ति स्वयं एक माल में तब्दील हो चुकी होती है, जिसे उसके स्वामी के तौर पर वह श्रम बाज़ार में पूँजीपति को बेचता है; पूँजीपति उत्पादन के साधनों का इजारेदार मालिक होता है; मज़दूर अपनी श्रमशक्ति को पूँजीपति को बेचने को बाध्य होता है; पूँजीपति अपनी मुद्रा-पूँजी से अन्य पूँजीपतियों से उत्पादन के साधन ख़रीदता है और मज़दूरों से श्रमशक्ति ख़रीदता है। उत्पादन के साधन और श्रमशक्ति पूँजीपति द्वारा ख़रीदे जाने के बाद स्वयं उसकी पूँजी का ही अंग होते हैं। इसलिए जब उत्पादन के ये वैयक्तिक तत्व (यानी श्रमशक्ति) और भौतिक तत्व (यानी उत्पादन के साधन) इस रूप में मिलते हैं, उनका उत्पादक उपभोग होता है और मालों का उत्पादन होता है, तो यह उत्पादन स्वयं पूँजी का ही प्रकार्य होता है और इस प्रकार हो रहा उत्पादन पूँजीवादी माल उत्पादन होता है। मार्क्स लिखते हैं:

> "मौजूदा मामले में, स्वतन्त्र मज़दूर का अपने उत्पादन के साधनों से अलगाव पूर्वप्रदत्त प्रस्थान-बिन्दु है, और हम देख चुके हैं कि किन स्थितियों में ये दोनों पूँजीपति के हाथों में एक साथ आते हैं, यानी, उत्पादक पूँजी के अस्तित्व-रूप में उसकी पूँजी के तौर पर एक साथ आते हैं। इस रूप में साथ आने वाले माल उत्पादन के वैयक्तिक और भौतिक तत्व एक-दूसरे के साथ जिस तरह से उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करते हैं उससे वह स्वयं पूँजी का ही प्रकार्य बन जाती है – यानी पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया, जिसकी प्रकृति के बारे में हम इस रचना के पहले खण्ड में विस्तार से विचार कर चुके हैं।" (*वही,* पृ. 120, *अनुवाद हमारा*)

मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि न तो श्रमशक्ति अपने आप में पूँजी का तत्व होती है और न ही उत्पादन के साधन अपने आप में पूँजी का तत्व होते हैं। वे पूँजी का तत्व *बनते* हैं। यह मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का उत्पादन सम्बन्ध है, जो उन्हें एक निश्चित मंज़िल में पूँजी के तत्व में तब्दील कर देता है। मार्क्स लिखते हैं:

> "अगर श्रमशक्ति उसके विक्रेता यानी उजरती श्रमिक के हाथों में महज़ एक माल होती है, तो यह उसके ख़रीदार, यानी पूँजीपति के हाथों में ही पूँजी का रूप धारण करती है, जिसे इसके अस्थायी उपयोग का अधिकार प्राप्त होता है। वहीं उत्पादन के साधन उत्पादक पूँजी के वस्तुगत रूपों में, या सही अर्थों में उत्पादक पूँजी में तब से ही तब्दील होते हैं, जब से उत्पादक पूँजी के अस्तित्व के वैयक्तिक रूप के तौर पर श्रमशक्ति उनमें समाविष्ट की जा सकती है। उत्पादन के साधन प्रकृति से ही पूँजी नहीं होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे श्रमशक्ति भी प्रकृति से ही पूँजी नहीं होती। वे यह विशिष्ट सामाजिक चरित्र केवल विशिष्ट स्थितियों के मातहत ग्रहण करते हैं, जो स्वयं ऐतिहासिक तौर पर विकसित हुई हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे क़ीमती धातुएँ भी निश्चित स्थितियों में ही मुद्रा का चरित्र ग्रहण करती हैं, या मुद्रा निश्चित स्थितियों में ही मुद्रा-पूँजी का चरित्र ग्रहण करती है।" (*वही,* पृ. 121, *अनुवाद हमारा*)

इस विवरण के बाद अन्त में मार्क्स बताते हैं कि मुद्रा-पूँजी के परिपथ में उत्पादक पूँजी के चरण का सारतत्व क्या है। इसका सारतत्व यह है कि उत्पादन के साधनों का जीवित श्रम द्वारा, यानी स्वयं श्रमशक्ति के उत्पादक उपभोग द्वारा, उत्पादक उपभोग होता है। इसके फलस्वरूप, नये मालों का उत्पादन होता है। लेकिन इन मालों का मूल्य उत्पादन में ख़र्च उत्पादन के साधनों व श्रमशक्ति के मूल्य से अधिक होता है। इसका कारण यह है कि उत्पादन के साधनों का मूल्य तो ज्यों का त्यों उत्पादित मालों में स्थानान्तरित हो जाता है, जो कि स्वयं श्रम के द्वारा ही होता है, लेकिन श्रमशक्ति अपने ख़र्च होने की प्रक्रिया में अपने मूल्य के बराबर नये मूल्य का उत्पादन तो करती ही है, लेकिन साथ ही वह उसके ऊपर बेशी मूल्य या अतिरिक्त मूल्य का भी उत्पादन करती है। नतीजतन, उत्पादक पूँजी के तत्वों यानी उत्पादन के साधनों व श्रमशक्ति के कुल मूल्य से ज़्यादा मूल्य के मालों का उत्पादन होता है। *पूँजी* के पहले खण्ड में ही मार्क्स इस समूची प्रक्रिया का विस्तार से विश्लेषण कर चुके हैं। इस प्रक्रिया का परिणाम यह होता है:

$$M - C <^{L}_{mp} \ldots P \ldots C'$$

इसके फलस्वरूप पूँजी माल-पूँजी का रूप ग्रहण करती है, लेकिन इस माल-पूँजी का कुल मूल्य मालों के उत्पादन में ख़र्च हुए उत्पादक-पूँजी के तत्वों के कुल मूल्य से ज़्यादा होता है। इसीलिए हम उत्पादक-पूँजी के चरण के परिणाम के रूप में पैदा मालों को महज़ C से नहीं बल्कि C' ('सी-प्राइम') से दर्शा रहे हैं। क्योंकि इसमें C के बराबर मूल्य तो शामिल है ही, लेकिन उसके ऊपर बेशी मूल्य की एक निश्चित मात्रा भी मालों के रूप में शामिल है।

$C' = C + c$

यहाँ c मालों के रूप में बेशी मूल्य की एक निश्चित मात्रा का प्रतिनिधित्व कर रहा है। यहाँ हमें भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मार्क्स ने पहले छोटे c अक्षर का प्रयोग स्थिर पूँजी को प्रदर्शित करने के लिए किया था और यहाँ वे माल के रूप में उत्पादन के फलस्वरूप पैदा हुए बेशी मूल्य को दर्शाने का लिए इसका इस्तेमाल कर रहे हैं। अभी हम विश्लेषण के या कहें निर्धारण के एक दूसरे स्तर पर हैं और यहाँ पर मार्क्स c का प्रयोग स्थिर पूँजी के लिए नहीं बल्कि माल के रूप में बेशी मूल्य की एक निश्चित मात्रा के लिए कर रहे हैं, जिसका उत्पादक पूँजी के चरण में उत्पादन हुआ है। बहरहाल, उत्पादक पूँजी के चरण में एक ओर श्रमशक्ति व उत्पादन के साधनों के उत्पादक उपभोग के साथ नये उपयोग-मूल्यों का उत्पादन होता है, वहीं दूसरी ओर इन उपयोग-मूल्यों का मूल्य उत्पादक पूँजी के तत्वों के कुल मूल्य से ज़्यादा होता है क्योंकि श्रमशक्ति अपने उत्पादक उपभोग की प्रक्रिया में अपने मूल्य से ज़्यादा मूल्य पैदा करती है, यानी बेशी मूल्य पैदा करती है। यह श्रमशक्ति नामक विशिष्ट माल की ख़ासियत है, उसका स्वभाव है। इस पूरी प्रक्रिया के विषय में मार्क्स लिखते हैं:

> "अपने प्रकार्य को पूरा करने के दौरान, उत्पादक पूँजी स्वयं अपने ही संघटक तत्वों का उपभोग करती है, उन्हें उच्चतर मूल्य वाले उत्पादों के ढेर में बदल डालती है। चूँकि श्रमशक्ति यहाँ केवल पूँजी के एक अंग के रूप में काम करती है, इसलिए वह अतिरिक्त मूल्य जिससे बेशी श्रम उत्पाद को लैस कर देता है, जो इसके ही संघटक तत्वों के मूल्य के ऊपर होता है, वह भी पूँजी का ही फल होता है। श्रमशक्ति का बेशी श्रम पूँजी के लिए मुफ़्त में किया जाने वाला श्रम होता है, और इसलिए पूँजीपति के लिए वह बेशी मूल्य को पैदा करता है, जिसके बदले में पूँजीपति को कोई लागत नहीं देनी पड़ती है। इसलिए यह उत्पाद महज़ कोई माल नहीं, बल्कि एक ऐसा माल है जो बेशी मूल्य से लैस होता है। इसका मूल्य P+s होता है, यानी उत्पादन में ख़र्च होने वाली उत्पादक पूँजी P का मूल्य *प्लस* वह बेशी मूल्य जो इस प्रक्रिया में पैदा होता है।" (*वही*, पृ. 121, *अनुवाद हमारा*)

इसके बाद मार्क्स इसे अपने पहले दिये गये उदाहरण के ज़रिये ही समझाते हैं:

> "मान लेते हैं कि यह माल दरअसल 10,000 पाउण्ड वज़न के बराबर सूत है, जिसमें उसके उत्पादन में ख़र्च 372 ब्रिटिश पाउण्ड के बराबर उत्पादन के साधनों का मूल्य और 50 ब्रिटिश पाउण्ड के बराबर श्रमशक्ति का मूल्य शामिल है। कताई की प्रक्रिया में, कताई करने वाले मज़दूरों ने अपने श्रम के ज़रिये इस प्रक्रिया में ख़र्च होने वाले उत्पादन के साधनों के मूल्य को सूत में स्थानान्तरित कर दिया, जो कि 372 पाउण्ड था, जबकि ठीक उसी समय उन्होंने, मान लें, 128 पाउण्ड के बराबर नया मूल्य भी पैदा किया जो उनके द्वारा किये गये श्रम के अनुसार निर्धारित हुआ। इस प्रकार 10,000 पाउण्ड वज़न का सूत 500 ब्रिटिश पाउण्ड के बराबर मूल्य का वाहक है।" (*वही,* पृ. 121, *अनुवाद हमारा*)

यानी कि उत्पादन के साधनों व श्रमशक्ति पर पूँजीपति द्वारा हुआ कुल ख़र्च था 422 पाउण्ड (372 + 50) जिसमें से 372 पाउण्ड बराबर मूल्य श्रम द्वारा ज्यों का त्यों उत्पाद में स्थानान्तरित हो गया, जबकि श्रमशक्ति ने अपने ख़र्च होने की प्रक्रिया में पहले अपने मूल्य के बराबर मूल्य, यानी 50 पाउण्ड पैदा किये, और उसके ऊपर 72 पाउण्ड अतिरिक्त पैदा किये। यह 72 पाउण्ड बेशी मूल्य है, जिसके बदले में पूँजीपति को कोई ख़र्च नहीं करना पड़ा है और यही उसके मुनाफ़े का स्रोत है।

उत्पादक पूँजी के चरण का बुनियादी प्रकार्य यही है कि इस चरण में बेशी मूल्य का उत्पादन होता है। पहले चरण, यानी संचरण की पहली कार्रवाई M – C, का बुनियादी प्रकार्य यह है कि इसके ज़रिये ही पूँजीपति के हाथों में वे माल आते हैं, जो अपने नैसर्गिक रूप में उत्पादक उपभोग के लिए अनिवार्य होते हैं और उत्पादक उपभोग में ही जा सकते हैं, वैयक्तिक उपभोग में नहीं। यह उत्पादक पूँजी के चरण की पूर्वपीठिका है और इसके बिना उत्पादक पूँजी का चरण सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए मार्क्स ने कहा था कि पूँजी संचरण के क्षेत्र *में* पूँजी बनती है (मूलत: और मुख्यत: श्रमशक्ति को ख़रीदकर) लेकिन वह संचरण के क्षेत्र *से* पूँजी नहीं बनती है (क्योंकि बेशी मूल्य का उत्पादन, यानी पूँजी का मूल औचित्य, उत्पादन की प्रक्रिया में ही पूर्ण होता है, संचरण के क्षेत्र में नहीं)। मार्क्स उत्पादक पूँजी के प्रकार्य पर चर्चा को *पूँजी* के दूसरे खण्ड में संक्षिप्त रखते हैं क्योंकि पहले खण्ड में इस पर बेहद विस्तार और गहराई से चर्चा हो चुकी है। इसके बाद, वह मुद्रा-पूँजी के परिपथ के तीसरे चरण पर आते हैं, जो पैदा हुए मूल्य और बेशी मूल्य के वास्तवीकरण के प्रश्न को उठाता है। इस चरण के पूर्ण हुए बिना भी पूँजी के परिपथ कुण्डलाकार पथ पर निरन्तर सुगमता से जारी नहीं रह सकता है।

महाविद्रोही राहुल सांकृत्यायन के जन्मदिवस (9 अप्रैल) के अवसर पर

राहुल सांकृत्यायन की बात सुनो....

– "हमें अपनी मानसिक दासता की बेड़ी की एक-एक कड़ी को बेदर्दी के साथ तोड़कर फेंकने के लिए तैयार रहना चाहिए। बाहरी क्रान्ति से कहीं ज्यादा ज़रूरत मानसिक क्रान्ति की है। हमें आगे-पीछे-दाहिने-बायें दोनों हाथों से नंगी तलवारें नचाते हुए अपनी सभी रूढ़ियों को काटकर आगे बढ़ना होगा।"

– "रूढ़ियों को लोग इसलिए मानते हैं, क्योंकि उनके सामने रूढ़ियों को तोड़ने वालों के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं।"

– "यदि जनबल पर विश्वास है तो हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जनता की दुर्दम्य शक्ति ने, फ़ासिज़्म की काली घटाओं में, आशा के विद्युत का संचार किया है। वही अमोघ शक्ति हमारे भविष्य की भी गारण्टी है।"

– "हमारे सामने जो मार्ग है, उसका कितना ही भाग बीत चुका है, कुछ हमारे सामने है और अधिक आगे आने वाला है। बीते हुए से हम सहायता लेते हैं, आत्मविश्वास प्राप्त करते हैं, लेकिन बीते की ओर लौटना – यह प्रगति नहीं, प्रतिगति – पीछे लौटना - होगी। हम लौट तो सकते नहीं, क्योंकि अतीत को वर्तमान बनाना प्रकृति ने हमारे हाथ में नहीं दे रखा है। फिर जो कुछ आज इस क्षण हमारे सामने कर्मपथ है, यदि केवल उस पर ही डटे रहना हम चाहते हैं तो यह प्रतिगति नहीं है, यह ठीक है, किन्तु यह प्रगति भी नहीं हो सकती यह होगी सहगति – लग्गू-भग्गू होकर चलना – जो कि जीवन का चिह्न नहीं है। लहरों के थपेड़ों के साथ बहने वाला सूखा काष्ठ जीवन वाला नहीं कहा जा सकता। मनुष्य होने से, चेतनावान समाज होने से, हमारा कर्तव्य है कि हम सूखे काष्ठ की तरह बहने का ख्याल छोड़ दें और अपने अतीत और वर्तमान को देखते हुए भविष्य के रास्ते को साफ़ करें जिससे हमारी आगे आने वाली सन्तानों का रास्ता ज्यादा सुगम रहे और हम उनके शाप नहीं, आशीर्वाद के भागी हों।"

प्रधानमन्त्री के संसदीय क्षेत्र में बर्बर बलात्कार और न्यायपालिका का दिनोदिन बढ़ता दकियानूसी और स्त्री-विरोधी चरित्र

● अविनाश

प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी के संसदीय क्षेत्र वाराणसी में एक वीभत्स घटना सामने आयी है। 23 दरिन्दों द्वारा 19 साल की लड़की के साथ 7 दिन तक किए गए बर्बर बलात्कार के मामले ने पूरे देश को एक बार फ़िर से झकझोर दिया है। ख़बर सामने आ रही है कि ये अपराधी उत्तर प्रदेश की डबल इंजन सरकार के नाक के नीचे सेक्स और ड्रग्स रैकेट चला रहे थे। जाहिर है कि ऐसा कोई भी रैकेट बिना शासन-प्रशासन के संरक्षण के बगैर चल पाना सम्भव नहीं है। इस घटना ने एक बार फिर से सरकार के स्त्री सुरक्षा के तमाम दावों की पोल खोल दी है। ग़ौरतलब है कि यह इस तरीक़े की कोई पहली घटना नहीं है। आईआईटी की घटना, नीट की तैयारी कर रही बिहार की एक लड़की के साथ बलात्कार और हत्या की घटना और अब यह घटना प्रधानमन्त्री मोदी के संसदीय क्षेत्र बनारस में बर्बर स्त्री विरोधी अपराधों के कुछ हालिया उदाहरण हैं। बीएचयू कैम्पस तक में आये दिन लड़कियों के साथ छेड़खानी की घटना होती रहती है। विश्वविद्यालय प्रशासन और जिला प्रशासन केवल मूकदर्शक बनकर देखता रहता है। हर बार की तरह इस बार भी घटना के सामने आने के बाद लीपापोती और बयानबाजियों का दौर शुरू हो चुका है। आज फ़ासीवादी दौर में पुलिस प्रशासन से लेकर न्यायालय तक ऐसे अपराधियों को बरी करने और संरक्षण देने का काम खुलेआम कर रहा है।

बुर्जुआ लोकतन्त्र का हर खम्भा जनता के सीने में बेदर्दी से धँसा होता है। इसकी सच्चाई से एक हद तक आम जनता भी परिचित होती है। लेकिन विशेष तौर पर फ़ासीवादी दौर में यह सच्चाई और भी नंगे रूप में जनता के सामने उजागर हो जाती है। इससे बुर्जुआ न्याय व्यवस्था भी परे नहीं है। पिछले कुछ दिनों के भीतर ही बुर्जुआ न्याय व्यवस्था का स्त्री विरोधी चरित्र एकदम खुलकर सामने आ गया है। बिलकिस बानो के बलात्कारियों को छोड़ने से लेकर छत्तीसगढ़ हाईकोर्ट द्वारा पति द्वारा किये गए बलात्कार को बलात्कार न मानना इसकी कुछ बानगी है। स्त्री विरोधी पितृसत्तात्मक मानसिकता की उल्टी करने में इलाहाबाद हाईकोर्ट देश के अन्य न्यायालयों को मीलों पीछे छोड़ चुका है। ऐसा लग रहा है मानो इलाहाबाद हाईकोर्ट के जजों के बीच कोई घृणित प्रतियोगिता चल रही है कि कौन सबसे ज़्यादा स्त्री विरोधी पितृसत्तात्मक मानसिकता का मुज़ाहिरा पेश कर सकता है।

इसका सबसे हालिया उदाहरण पिछले 10 अप्रैल को इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज संजय कुमार सिंह का बयान है। सितम्बर 2024 में दिल्ली के हौज़खास में हुए बलात्कार के मामले की सुनवाई करते हुए जज साहब ने अपराधी को बेल दे दिया और साथ में बलात्कार के लिए महिला को ही ज़िम्मेदार ठहराते हुए बयान दिया कि- "इस न्यायालय का मानना है कि अगर पीड़िता के आरोप को सच भी मान लिया जाय तो भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसने ख़ुद ही मुसीबत को आमन्त्रित किया और इसके लिए वह ख़ुद ज़िम्मेदार भी है।" जज साहब के मुखारबिन्दु से यह कचरा इसलिए जगजाहिर हुआ क्योंकि पीड़िता ने शराब का सेवन किया हुआ था, जिसकी वजह से इनकी भावना आहत हो गयी थी। इस बयान से ऐसा लग रहा है कि "न्याय के इस देवता" का ध्यान आरोपी की भूमिका पर कम और पीड़िता की भूमिका पर ज्यादा था। जज साहब यह बताना भूल गए कि शराब पीकर किसी के साथ चले जाने से आरोपी को बलात्कार करने की छूट किस क़ानून के मुताबिक़ मिल जाती है? अब जज साहब को कौन बताये की कन्सेण्ट यानी सहमति नाम की भी कोई चीज़ होती है।

विडम्बना यही है कि औपनिवेशिक कोख से पैदा हुआ भारतीय पूँजीवाद जन्म से ही विकलांग रहा। इसमें इतनी भी प्रगतिशीलता का तत्व नहीं था कि न्याय और जनवाद के उन मानकों पर खरा उतारे जो पुर्नजागरण-प्रबोधन-क्रान्ति के रास्ते विकसित हुआ पूँजीवाद ने स्थापित किया था। इसलिए यहाँ स्त्री-पुरुष रिश्तों में स्त्रियों की चाहत और सहमति का सवाल कभी रिश्ते के केन्द्र में रहता ही नहीं है। भारतीय न्यायालयों में बैठे "न्यायाधीश" भी इसके अपवाद नहीं है। इलाहाबाद हाईकोर्ट द्वारा पितृसत्तात्मक सोच के प्रदर्शन का यह कोई पहला अवसर नहीं है बल्कि गाहे-बगाहे हाईकोर्ट द्वारा इस मानसिकता का प्रदर्शन होता ही रहता है। पिछले दिनों जस्टिस राममनोहर रामायण मिश्र की पीठ ने उत्तर प्रदेश के कासगंज में हुए एक मामले की सुनवाई करते हुए कहा कि पीड़िता का स्तन छूना या पाजामे की डोरी तोड़ने को बलात्कार या बलात्कार की कोशिश के मामले में नहीं गिना जा सकता है। "मिश्रा जी" यह नहीं बता पाये की कोई अपराधी ऐसा कुकृत्य करेगा ही क्यों? दरअसल पूँजीवादी पितृसत्तात्मक और ब्राह्मणवादी मानसिकता कभी भी स्त्रियों, दलितों, अल्पसंख्यकों और वैकल्पिक जेण्डर की गरिमा और आत्मसम्मान को तरजीह ही नहीं देता है। जिसका नंगा प्रदर्शन यहाँ मिश्रा जी के द्वारा किया गया।

न्यायपालिका द्वारा हालिया दिनों में दिए गए कुछ प्रातनिधिक बयान है जो आज के दौर में न्यायपालिका के भीतर तक पैठी पुरुषवादी मानसिकता को रेखांकित करने के लिए काफ़ी है। यह केवल न्यायपालिका का मामला नहीं है। बल्कि आज देश की सभी सर्वोच्च संस्थाओं में फ़ासीवादी घुसपैठ हो चुकी है। फ़ासीवाद अपनी मूल प्रकृति से ही स्त्री विरोधी विचारधारा को खाद पानी देने का काम करता है। जैसा कि वित्तमन्त्री निर्मला सीतारमण और योगी आदित्यनाथ के बयानों से समझा जा सकता है। जहाँ निर्मला सीतारमण का कहना है कि "पितृसत्ता वामपन्थी अवधारणा है।" वहीं योगी का मानना है कि "महिलाओं को स्वतन्त्र या आज़ाद नहीं छोड़ा जा सकता है।" बस योगी जी यह कहना भूल गए कि कुलदीप सिंह सेंगर, आशाराम, रामरहीम जैसे अपराधियों को आज़ाद छोड़ने से देश "विश्वगुरु" बनेगा। फ़ासीवादी शासन में बलात्कारियों के पक्ष में फ़ासिस्टों द्वारा तिरंगा यात्रा निकलने से लेकर आरोपियों को बेल मिलने पर फूल माला से स्वागत करना आम बात बन चुकी है। ऐसे में समाज के सबसे बर्बर, अपराधिक और बीमार तत्वों को अपराध करने की खुली छुट मिल जाती है। यह स्थिति और भी ख़तरनाक तब बन जाती है बुर्जुआ न्याय व्यवस्था बुर्जुआ जनवाद के अतिसीमित प्रगतिशीलता को स्थापित करने की जगह फ़ासिस्टों के हाथ की कठपुतली बन जाय और जनविरोधी-स्त्रीविरोधी बयानों की झड़ी लगा दे। न्यायपालिका के इस प्रकार के बयानों की वजह से समाज में गहराई से पैठी स्त्री विरोधी मानसिकता को फलने-फूलने के लिए खाद पानी मिलेगा। और कालान्तर में स्त्रियों के ख़िलाफ़ होने वाले जघन्य अपराधों के लिए ज़मीन तैयार हो रही है।।

'नारी शक्ति' और 'बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ' का राग अलापने वाली मोदी सरकार के कार्यकाल में स्त्री विरोधी अपराधों की बाढ़ सी आ गई है। कहीं शिक्षकों द्वारा छात्राओं का उत्पीड़न, कहीं बालिका गृहों में बच्चियों पर यौन हिंसा, कहीं झूठी शान के लिए लड़कियों को मार देना, कहीं सत्ता में बैठे लोग स्त्रियों को नोचते हैं, कहीं जातीय या धार्मिक दंगों में औरतों पर ज़ुल्म होता है तो कहीं पर पुलिस और फ़ौज की वर्दी तक में छिपे भेड़िये यौन हिंसा में लिप्त पाये जाते हैं!

पिछले दस सालों की बात करें तो बलात्कार की घटनाओं में लगभग 26.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। आज हालत यह हो चुकी है कि प्रतिदिन लगभग 86 बलात्कार के अपराध हमारे देश में दर्ज़ हो रहे हैं। ये तो वे मामले हैं जो तमाम दबावों के बाद भी मीडिया और पुलिस तक पहुँच जाते हैं। इससे कई गुना ज़्यादा मामले लोक-लाज के डर और लचर प्रशासनिक-न्यायिक व्यवस्था की वजह से कभी सामने आ ही नहीं पाते। उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में जो लोग न्याय के लिए आवाज़ उठा रहे हैं उनपर दमन का पाटा चलाया जा रहा है। आईआईटी-बीएचयू में छात्रा के साथ भाजपा आईटी-सेल के गुण्डों द्वारा गैंगरेप की घटना के बाद न्याय के लिए संघर्ष करने वाले छात्रों पर ही मुक़दमा दर्ज़ कर निलम्बित करने का फरमान जारी कर दिया गया। इस तरह की घटनाओं में वृद्धि की एक बड़ी वज़ह ये है कि सत्ता में बैठे हुए लोग ऐसे बर्बर अपराधियों-बलात्कारियों को शह देने का काम करते हैं। उत्तर प्रदेश में 2017 के मुकाबले 2022 में दागी विधायकों की संख्या में डेढ़ गुना की वृद्धि हुई है। आये दिन आसाराम और राम रहीम जैसे बलात्कारियों को पैरोल पर बाहर निकलने का मौक़ा दिया जाता है।

ऐसी स्थिति में इन बर्बर बलात्कारियों के हौसले बुलन्द होते हैं। ऐसी मानसिकता वाले अपराधियों को लगता है, वे चाहे कुछ भी करें उन्हें कोई सजा नहीं होगी। दरअसल संस्कार और शुचिता की बात करने वाली योगी-मोदी सरकार के खुद के सांसद और विधायक ही ऐसे बर्बर कृत्यों में लिप्त पाये जाते हैं। भाजपा में चिन्मयानन्द, कुलदीप सिंह सेंगर, प्रज्ज्वल रेवन्ना, ब्रजभूषण शरण सिंह जैसे बलात्कारियों की भरमार है। ऐसे में यह साफ़ जाहिर है कि ये लोग ऐसी मानसिकता को पोषित करने का ही काम करेंगे। ये फ़ासीवादी सरकार आज पूरे समाज के पोर-पोर में स्त्री विरोधी पितृसत्तात्मक मूल्य-मान्यताओं को फैलाने का काम कर रही है। जिस वज़ह से ऐसे बलात्कारी और अपराधी किस्म की मानसिकता तैयार होती है। आज के दौर में फ़िल्मों से लेकर गाने-सिनेमा-साहित्य हर माध्यम से घोर स्त्री विरोधी संस्कृति को प्रचारित करने का काम किया जा रहा है। जिसका नतीज़ा है कि समाज में ऐसी घटनाएँ थमने का नाम नहीं ले रही हैं। आज हर इन्साफ़पसन्द और संवेदनशील व्यक्ति को ऐसे बर्बर स्त्री विरोधी अपराधों के खिलाफ़ खड़े होने की ज़रूरत है। इन अपराधियों और बलात्कारियों को शह देने वालों के खिलाफ़ खड़े होने की ज़रूरत है। साथ ही साथ यह समझने की भी ज़रूरत है कि जब तक पूँजीवाद रहेगा तब तक ऐसी स्त्री विरोधी मानसिकता उत्पादित और पुनरुत्पादित होती रहेगी।

जोतिबा फुले की क्रान्तिकारी विरासत को जानो!

(पेज 7 से आगे)

उत्पीड़न के ख़िलाफ़ उठ खड़े होना। जनता की बढ़ती चेतना और जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों से शासक वर्ग हमेशा से खौफ़ खाता रहा है और इसलिए आम तौर पर शासक वर्ग जनता के असली नायकों को जनता के बीच सही रूप में पहुँचने से रोकने की जुगत में रहता है। अपने तमाम संस्थाओं और भोंपुओं के जरिये शासक वर्ग समाज में उनको नायक के तौर पर स्थापित करने की कोशिश करता है जिनके विचार शासक वर्गों के हित का पोषण करते हैं। जब कई बार शासक वर्ग इतिहास से जिन जननायकों को मिटाने में असफल रहता है, तब उन नायकों को मूर्ति और फोटो के रूप में तो लोगों तक पहुँचने देता है लेकिन उनके विचारों को सही रूप में जनता के बीच जाने से रोकने की कोशिश करता है। जैसा कि भगतसिंह के साथ भी हुआ है और एक दूसरे सन्दर्भ में जोतिबा फुले के साथ हुआ है। आज अस्मितावादी संशोधनवादी भी जोतिबा फुले के विचारों, सपनों और विरासत को विकृत कर पूँजीवादी दायरों में कैद करना चाहते हैं। दूसरी तरफ फ़ासीवादी ताकतें इनके संघर्षों और विरासत पर धूल और राख़ डालने की कोशिश कर रही हैं।

आज देश में फ़ासीवादी ताकतें सत्तासीन हैं जो शिक्षा के बाज़ारीकरण की नीतियां इस कदर लागू कर रही हैं जिससे देश की एक बड़ी आबादी के लिए शिक्षा के दरवाजे बन्द हो रहे हैं। बेरोज़गारी, महँगाई, अशिक्षा, गरीबी और बदहाली रिकॉर्ड तोड़ रफ्तार से बढ़ रही है। दूसरी तरफ़ फ़ासीवादी ताकतें तमाम रूढ़ियों और अवैज्ञानिक व अतार्किक विचारों का पोषण कर रही हैं। पूरी शिक्षा का ही साम्प्रदायिकीकरण किया जा रहा है। पाठ्यक्रमों में ऐसे बदलाव किए जा रहे हैं जो आम छात्रों-युवाओं में तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित नहीं करेंगे। डार्विन के सिद्धान्त से लेकर पीरियाडिक टेबल का हटाया जाना, इतिहास में संघी गल्प को पाठ्यक्रम का हिस्सा बना देना इस फ़ासीवादी परियोजना का एक उदाहरण है। शिक्षा के साथ ही साथ कला-साहित्य-फ़िल्म जगत पर भी फ़ासीवाद अपने एजेण्डे को साध रहा है। 'छावा', 'कश्मीर फाइल्स', 'केरल स्टोरी' इन्ही प्रोपगेण्डा फ़िल्मों की एक बानगी है। सारे धार्मिक पर्वों का फ़ासीवादीकरण कर उन्माद का माहौल बनाया जा रहा है। आज जब संघी फ़ासीवादी, जाति प्रथा व पितृसत्ता के आधार पर व साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण से दलितों, स्त्रियों व अल्पसंख्यकों पर हमले तेज़ कर रहे हैं; खाने-पीने, जीवन साथी चुनने व प्रेम के अधिकार को छीनने की कोशिश कर रहे हैं; ऐसे समय में जोतिबा फुले की विरासत व संघर्ष को याद करना व जनता के बीच स्थापित करना बहुत ज़रूरी है। हमें यह समझना होगा कि स्त्री मुक्ति का रास्ता व जाति उन्मूलन का रास्ता नये सर्वहारा पुनर्जागरण-प्रबोधन और नयी सर्वहारा क्रान्ति का अभिन्न अंग है। इसलिए आज की ज़रूरत है कि नयी सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी में बिना देर किये जुट जाया जाय यही जोतिबा फुले को सच्ची आदरांजलि होगी।

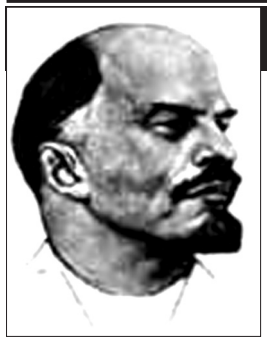

दुनिया का पहला मज़दूर राज क़ायम करने वाली रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन के जन्मदिवस (22 अप्रैल) के मौक़े पर

समाजवादी क्रान्ति और राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार (लेख के अंश)

● वी.आई.लेनिन

2. समाजवादी क्रान्ति और जनवाद के लिए संघर्ष

समाजवादी क्रान्ति कोई एकल कार्य नहीं है, एक मोर्चे पर एक एकल लड़ाई नहीं है; बल्कि तीखे वर्ग संघर्षों का एक पूरा युग है, सभी मोर्चों पर लड़ाइयों की, यानी, अर्थशास्त्र और राजनीति की सभी समस्याओं के इर्द-गिर्द लड़ाइयों एक लम्बी श्रृंखला है, जो तभी ख़त्म हो सकती है जब पूँजीपति वर्ग का स्वत्वहरण कर दिया जायेगा। यह मानना एक बुनियादी ग़लती होगी कि जनवाद के लिए संघर्ष सर्वहारा वर्ग को समाजवादी क्रान्ति से भटका सकता है, या उस लक्ष्य को धुँधला या ढँक सकता है, आदि। इसके विपरीत, जिस तरह समाजवाद तब तक विजयी नहीं हो सकता जब तक कि वह पूर्ण जनवाद लागू न करे, उसी तरह सर्वहारा वर्ग पूँजीपति वर्ग पर विजय के लिए तब तक तैयार नहीं हो पायेगा जब तक कि वह जनवाद के लिए बहुआयामी, सुसंगत और क्रान्तिकारी संघर्ष नहीं छेड़ता है।

जनवाद के कार्यक्रम के किसी भी बिन्दु को हटाना भी क़तई कम गलत बात नहीं होगी, उदाहरण के लिए, राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का बिन्दु, इस आधार पर कि यह "असम्भव" है, या साम्राज्यवाद के तहत यह बस एक "मरीचिका" है। राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को पूँजीवाद के ढाँचे के भीतर हासिल नहीं किया जा सकता है, इस दावे को या तो इसके निरपेक्ष, आर्थिक अर्थ में समझा जा सकता है, या फिर पारम्परिक, राजनीतिक अर्थ में।

पहले मामले में, यह दावा सैद्धान्तिक रूप से बुनियादी तौर पर ग़लत है। पहली बात, इस अर्थ में, पूँजीवाद के तहत श्रम धन या संकटों के उन्मूलन, आदि जैसी चीज़ें हासिल करना असम्भव है। लेकिन यह तर्क देना पूरी तरह से ग़लत है कि राष्ट्रों का आत्मनिर्णय भी इसी तरह असम्भव है। दूसरे, 1905 में स्वीडन से नॉर्वे के अलग होने का एक उदाहरण भी इस तर्क का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है कि यह इस अर्थ में "असम्भव" है। तीसरे, इस बात से इन्कार करना हास्यास्पद होगा कि राजनीतिक और रणनीतिक सम्बन्धों में थोड़े-से बदलाव के साथ, उदाहरण के लिए, जर्मनी और इंग्लैण्ड के बीच, नये राज्यों, पोलिश, भारतीय आदि का गठन बहुत जल्द "सम्भव" हो जायेगा। चौथे, वित्त पूँजी, विस्तार के अपने प्रयासों के तहत, किसी भी देश की सबसे स्वतन्त्र, सबसे जनवादी और गणतन्त्रात्मक सरकार और निर्वाचित अधिकारियों को "मुक्त रूप से" ख़रीदेगी और रिश्वत देगी, चाहे वे कितने भी "स्वतन्त्र" क्यों न हों। वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व, आम तौर पर पूँजी के प्रभुत्व की ही तरह, राजनीतिक जनवाद के क्षेत्र में किसी भी तरह के सुधारों से समाप्त नहीं किया जा सकता है, और आत्मनिर्णय पूरी तरह से और विशेष रूप से इसी क्षेत्र से सम्बन्धित है। हालाँकि, वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व, वर्ग उत्पीड़न और वर्ग संघर्ष के अधिक स्वतन्त्र, अधिक व्यापक और अधिक विशिष्ट रूप के तौर पर राजनीतिक जनवाद के महत्व को ज़रा भी नष्ट नहीं करता है। इसलिए, पूँजीवाद के तहत राजनीतिक जनवाद की माँगों में से एक को आर्थिक रूप से हासिल करने की "असम्भाव्यता" के बारे में तमाम तर्क ख़ुद को पूँजीवाद के सामान्य और मूलभूत सम्बन्धों और आम तौर पर राजनीतिक जनवाद की सैद्धान्तिक रूप से ग़लत परिभाषा में सीमित कर देते हैं।

दूसरे मामले में, यह दावा अधूरा और ग़लत है, क्योंकि न केवल राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार, बल्कि राजनीतिक जनवाद की सभी बुनियादी माँगों को साम्राज्यवाद के तहत "हासिल करना सम्भव" है, मगर केवल अपूर्ण, तोड़े-मरोड़े रूप में और एक दुर्लभ अपवाद के रूप में (उदाहरण के लिए, 1905 में स्वीडन से नॉर्वे का अलग होना)। सभी क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों द्वारा उठायी गयी उपनिवेशों की तत्काल मुक्ति की माँग भी क्रान्तियों की एक श्रृंखला के बिना पूँजीवाद के तहत "हासिल करना असम्भव" है। हालाँकि, इसका मतलब यह नहीं है कि सामाजिक जनवाद को इन सभी माँगों के लिए तत्काल और दृढ़तम संघर्ष करने से बचना चाहिए – इससे बचना पूँजीपति वर्ग और प्रतिक्रिया को ही फ़ायदा पहुँचायेगा। इसके विपरीत, इसका मतलब यह है कि इन सभी माँगों को सुधारवादी नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी तरीक़े से सूत्रबद्ध करना और उठाना आवश्यक है; बुर्जुआ वैधानिकता के ढाँचे के भीतर रहकर नहीं, बल्कि इसे तोड़कर; संसदीय भाषणों और मौखिक विरोधों तक सीमित रहकर नहीं, बल्कि जनता को वास्तविक कार्रवाई में शामिल करके, हर तरह की बुनियादी, जनवादी माँग के लिए संघर्ष को व्यापक बनाना और भड़काना, पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के प्रत्यक्ष आक्रमण के ऐन समय तक और उसे शामिल करते हुए, यानी समाजवादी क्रान्ति तक, जो पूँजीपति वर्ग का स्वत्वहरण कर देगी। समाजवादी क्रान्ति केवल किसी बड़ी हड़ताल, सड़क के प्रदर्शन, भुखमरी के विरुद्ध बलवे, सेना में बग़ावत या एक औपनिवेशिक विद्रोह के परिणामस्वरूप ही नहीं शुरू हो सकती है, बल्कि किसी भी राजनीतिक संकट के परिणामस्वरूप भी हो सकती है, जैसे कि ड्रेफ़स मामला, [4] ज़ेबर्न की घटना, [5] या किसी उत्पीड़ित राष्ट्र के अलग होने पर जनमत संग्रह के संबंध में, आदि।

साम्राज्यवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय उत्पीड़न का तीखा होना सामाजिक-जनवाद के लिए यह ज़रूरी बना देता है कि वह राष्ट्रों के अलग होने की स्वतन्त्रता के लिए पूँजीपति वर्ग द्वारा "काल्पनिक" बताये जाने वाले संघर्ष को तिलांजलि न दे, बल्कि इसके विपरीत, जनता की कार्रवाई को भड़काने और पूँजीपति वर्ग पर क्रान्तिकारी हमलों के उद्देश्य से इस आधार पर उत्पन्न होने वाले टकरावों का पहले से कहीं अधिक लाभ उठाये।

दिल्ली में भाजपा सरकार के तीन माह! चुनाव से पहले दिल्ली की जनता से किये वायदों से अब मुकर रही भाजपा सरकार !

● योगेश स्वामी

आख़िरकार देश की राजधानी दिल्ली में 27 साल बाद फिर भाजपा की सरकार सत्ता में आ ही गयी। चुनाव जीतने के लिए भाजपा ने वोटर लिस्ट में गड़बड़ी करने से लेकर तमाम हथकण्डे अपनाये। दिल्ली में सत्ता हासिल करना भाजपा के लिए पिछले लम्बे समय से नाक का सवाल बना हुआ था और इसकी तैयारी उन्होंने काफ़ी पहले ही शुरू कर दी थी। दिल्ली में सत्ता पाने के लिए भाजपा ने 2020 में उत्तर-पूर्वी दिल्ली में दंगे कराये और उसके बाद से बीच-बीच में ऐसी घटनाएँ होती रही, जिससे दिल्ली में साम्प्रदायिक महौल लगातार बना रहा।

चुनाव आते ही भाजपा ने लोक-लुभावन वायदों की झड़ी लगा दी। पहले भाजपा के नेता यह प्रचार करते रहे कि आम आदमी पार्टी की सरकार की सारी मुफ़्त योजनाएँ जारी रहेंगी और साथ ही भाजपा ने दिल्ली की जनता से कई सारे नये हवा-हवाई वायदे भी किये। दिल्ली की जनता को इन लोक-लुभावन वायदों पर यक़ीन हो सके इसलिए इन सारे वादों को 'मोदी की गारण्टी' कह कर प्रचारित किया गया और स्वयं प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने दिल्ली चुनाव के लिए की अपनी जनसभाओं में इन वायदों के लिए 'मोदी की गारण्टी' का राग अलापा। दिल्ली की जनता का एक बड़ा हिस्सा इन वायदों के झाँसे में आ गया और भाजपा को वोट किया। पर अब भाजपा की सरकार बनने के बाद आम मेहनकश आबादी से किये इन वायदों की हवा निकल गयी है। भाजपा अब अपने किये वायदों से मुकरती नज़र आ रही है!

दिल्ली में भाजपा की सरकार बने लगभग तीन महीने हो चुके हैं, अब भाजपा अपने वायदों को पूरा नहीं करने के लिए चालें चल रही है। कई योजनओं पर ऐसे नियम लगा दिये गये हैं कि उन्हें दिल्ली की बहुसंख्यक आबादी खासकर मज़दूर आबादी पूरा कर ही नहीं पायेगी।

आज़ादी के बाद के अब तक देश के सबसे झूठे-मक्कार प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने चुनाव से पहले दिल्ली की जनता से वादा किया कि भाजपा की सरकार बनने के बाद पहली कैबिनेट मीटिंग में महिला सम्मान योजना (जिसमें दिल्ली की महिलाओं को 2500 रुपये दिये जायेंगे) को पास किया जायेगा और 8 मार्च, 2025 को यह राशि उनके खाते में आ जायेगी। मगर अन्य राज्यों की तरह ही दिल्ली में भी यह घोषणा एक जुमला बनकर रह गयी।

हम मेहनतकशों को समझ लेना चाहिए कि खैरात देकर ये सभी चुनाबबाज पार्टियाँ हमारे असल मुद्दों यानी शिक्षा-रोज़गार-स्वास्थ्य-आवास को गायब कर देती हैं, वहीं इसके उलट पूँजीपतियों और व्यापारियों के टैक्स व कर्ज़ को माफ़ कर दिया जाता है। महँगाई, बेरोज़गारी का कहर हम पर पड़ता है और यही कारण है कि सभी पार्टियाँ चुनाव में खैरात बाँटकर चुनाव जीतना चाहती हैं। हैं। हमें यह यह भी समझना होगा कि यह खैरात भी मेहनतकश जनता से निचोड़े हुए टैक्स से ही दी जाती है न कि अमीरों-धन्नासेठों पर प्रगतिशील प्रत्यक्ष टैक्स लगाकर। इसलिए सरकार द्वारा दी जा रही कोई भी सुविधा हमें "मुफ़्त" में नहीं मिलती।

दिल्ली विधानसभा चुनाव से पूर्व आम आदमी पार्टी ने वादा किया था कि अगर वो फिर सत्ता में आती है, तो महिला सम्मान योजना के तहत दिल्ली की हर महिला को 2100 रुपये दिये जायेंगे। इसी तर्ज़ पर भाजपा ने एक क़दम आगे बढ़ते हुए वादा किया कि अगर वो सत्ता में आते है तो 2500 रुपये दिल्ली की महिलाओं को दिये जायेंगे। साथ ही पिछली सरकार द्वारा चलाई जा रही सभी कल्याणाकरी योजनाओं जैसे महिलाओं को बसों में मुफ़्त यात्रा आदि को जारी रखा जायेगा। पर अब हर योजना को लागू रखने के के लिए तरह-तरह के नियम बनाये जा रहे हैं। इसका मकसद लोगों को आसानी से योजना का लाभ मिल सके यह नहीं है, बल्कि यह है कि कम से कम लोग ही योजना का लाभ पा सकें। 2500 रुपये देने के वादे से मुकरते हुए अब भाजपा की दिल्ली सरकार बीपीएल कार्ड, आय प्रमाण पत्र, एसडीएम से प्रमाणित दस्तावेज़ माँग रही है। दिल्ली की एक बहुत बड़ी ग़रीब आबादी इन नियमों को जानकर अपने को ठगा से महसूस कर रही है।

भाजपा ने दिल्ली की मज़दूर आबादी से भी कई वादे किये थे, जैसे घरेलू कामगारों, गिग वर्कर आदि से। पर अब सरकार बनने के बाद सभी वायदों पर रेखा गुप्ता ने चुप्पी साध ली है। अपने किये वायदों और असल मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए भाजपा के नेता साम्प्रदायिक बयान देने में लगे हुए हैं। जैसे मुस्तफ़ाबाद से भाजपा के विधायक मोहनसिंह बिष्ट ने कहा कि वो जल्द ही प्रस्ताव रखेंगे कि मुस्तफ़ाबाद विधानसभा का नाम बदलकर शिव पुरी कर दिया जाये। इलाक़े का नाम बदलने से क्या इलाक़े की समस्याएँ ख़त्म हो जायेंगी? इसी तरह पटपड़गंज से विधायक रविन्द्र नेगी आये-दिन साम्प्रदायिक महौल बनाने के लिए बायनबाज़ी कर रहे हैं। यह सब भाजपा की फ़ासीवादी राजनीति का ही हिस्सा है।

जहाँ एक तरफ भाजपा अपने वादों से मुकर रही है, दूसरी तरफ कोई न कोई साम्प्रदायिक मुद्दा उठाने का मौक़ा नहीं छोड़ रही है। भाजपा ने केन्द्र सरकार की आयुष्मान योजना (जिसके तहत दिल्ली के लोगों को 10 लाख का इलाज़ मुफ़्त मिल सकता है) का ऐसा प्रचार किया कि बस भाजपा सरकार बनते ही दिल्ली में रहने वाले हर व्यक्ति को इस योजना लाभ मिलने लगेगा। सच्चाई यह है कि इस योजना का लाभ उन्हीं लोगों को मिलेगा जिनके पास दिल्ली का आय प्रमाण पत्र, राशन कार्ड जैसे दस्तावेज़ होंगे। ऐसे नियमों के चलते एक बहुत बड़ी बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को इसका लाभ मिल ही नहीं पायेगा। दिल्ली की ग़रीब आबादी के लिए भाजपा का यह वादा भी चुनावी जुमला ही साबित होने वाला है। हालाँकि जब दिल्ली व केन्द्र के सरकारी अस्पताल कहने के लिए मुफ़्त हैं, तो होना यह चाहिए कि सरकारी अस्पताल में किसी भी मरीज़ की सारी जाँच, सारा इलाज़ और कोई छोटा या बड़ा ऑपरेशन पूरी तरह मुफ़्त हो। तब ऐसी किसी आयुष्मान योजना की ज़रूरत ही नहीं होगी।

महिलाओं के लिए बस में मुफ़्त यात्रा के भी नये नियम लाये जा रहे हैं, जिसके तहत महिलाओं को अपने कुछ दस्तावेज़ों के आधार पर एक कार्ड बनवाना होगा, इन दस्तावेज़ों में महिला के पास दिल्ली का निवास प्रमाण पत्र, परिवार का आय प्रमाण पत्र, राशन कार्ड होना चाहिए। अब यह कार्ड बनने पर ही दिल्ली की बसों में महिलाएँ मुफ़्त यात्रा कर पायेंगी। होना तो यह चाहिए कि सार्वजिनक परिवहन योजना के तहत सभी लोगों के लिए बसों व मेट्रो में यात्रा मुफ़्त में ही होनी चाहिए। कई पूँजीवादी देशों में जनता को ऐसी सुविधाएँ मिली हैं। दिल्ली शहर, जो दुनिया के सबसे प्रदूषित शहरों में से एक है, वहाँ तो बहुत ज़रूरी है कि सार्वजिनक परिवहन व्यवस्था को बढ़ावा दिया जाये ताकि लोग अपने निजी वाहन का कम से कम प्रयोग करें।

भाजपा ने वायदा किया था कि रसोई गैस सिलेण्डर 500 रुपये का मिलेगा और होली व दीवाली के त्यौहार पर एक सिलेण्डर मुफ़्त दिया जायेगा। यह वायदा भी एक बड़ा जुमला निकला। इस बीच होली आयी और चली गयी, पर किसी को कोई सिलेण्डर मुफ़्त नहीं मिला। इसके उलट मोदी सरकार ने घरेलू सिलेण्डर 50 रुपये महँगा कर दिया है। साथ ही पेट्रोल और डीज़ल पर भी 2 रुपये की बढ़ोतरी की है। मोदी सरकार को असल में चिन्ता इस देश के कॉरपोरेट घरानों, पूँजीपतियों, धन्नासेठों और पेट्रोलियम उपक्रमों के मुनाफ़े की है और इसके लिए हम सबका खून चूसकर भी इस मुनाफ़े को बढ़ाया जायेगा! भाजपा दिल्ली में जनता से किये वायदों से अब धीरे-धीरे मुकर रही है। इसमें कोई हैरानी नहीं है। मज़दूर विरोधी भाजपा सरकार के राज में ग़रीबों-मज़दूरों के लिए खाने-पीने से लेकर हर वस्तु और महँगी हो जायेगी और दिल्ली के बहुसंख्यक मेहनकश आबादी की जिन्दगी और बद से बदतर होगी।

महँगाई की बढ़ती मार! चुप क्यों है मोदी सरकार!!

(पेज 1 से आगे)

रही थीं, इसलिए ही क़ीमतें बढायी गयी हैं! सरकार बता रही है कि कम्पनियों को क़रीब 32 हज़ार करोड़ का नुक़सान हो रहा था! लेकिन क्या यह पूरा सच है? नहीं!

पूरा सच यह है कि पिछले साल सरकारी पेट्रोलियम उपक्रमों को 86 हज़ार करोड़ का फ़ायदा हुआ और देश के सभी सरकारी उपक्रमों को कुल मिलाकर 5.6 लाख करोड़ का मुनाफ़ा हुआ तो सरकार ने इस मुनाफ़े की वजह से पेट्रोल, डीज़ल और सिलेण्डर के दाम कम नहीं किये! क्या इस मुनाफ़े का इस्तेमाल जनता पर अप्रत्यक्ष करों का बोझ कम करने में हुआ? क्या इस मुनाफ़े को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सुविधाओं पर ख़र्च किया गया? नहीं! दरअसल सरकारी उपक्रमों का मुनाफ़ा इस देश की जनता की गाढ़ी कमाई का ही हिस्सा है, जिसे *नॉन टैक्स रेवेन्यू* कहा जाता है और इसका इस्तेमाल सरकार पूँजीपतियों की सेवा में ही करती है! यानी यह राजस्व सीधे तौर पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों से नहीं, बल्कि मुनाफ़ा देने वाले सरकारी उपक्रमों के ज़रिये आ रहा होता है। भाजपा के मन्त्री हरदीपसिंह पुरी ने सिद्ध कर दिया है कि उन्हें असल में चिन्ता तो इस देश के कॉरपोरेट घरानों, पूँजीपतियों, धन्नासेठों और पेट्रोलियम उपक्रमों के मुनाफ़े की है और इसके लिए आम जनता का ख़ून चूसकर भी इस मुनाफ़े को बढाया जायेगा!

सरकार कहने के लिए हमसे अप्रत्यक्ष कर इसलिए ही वसूलती है ताकि हमें तमाम सुविधाएँ जैसे अस्पताल, आवास, शिक्षा और राशन मुहैया करा सके। लेकिन यहाँ सरकार हमसे कह रही है कि वह हमसे अप्रत्यक्ष कर भी वसूलेगी और सरकारी उपक्रम के नुक़सान की भरपाई भी इस वसूली से की जायेगी! सरकार जनता से करों का एक बड़ा हिस्सा पेट्रोल और डीज़ल से ही वसूलती है! मोदी सरकार को आयात किया गया कच्चा तेल बेहद सस्ते दामों पर मिलता है। डीलर को मिलने वाला हिस्सा ही पेट्रोल की क़ीमत का 36 प्रतिशत होता है, जो कि सरकार ने पेट्रोल पम्प मालिकों, बिचौलियों आदि को लाभ पहुँचाने के लिए ही रखा है। ऊपर से, केन्द्र सरकार इस पर 37 प्रतिशत टैक्स वसूलती है और क़रीब 23 प्रतिशत वैट राज्य सरकारें लगाती हैं। शेष 3-4 प्रतिशत डीलर का कमीशन, ढुलाई ख़र्च आदि होता है। यानी ये सरकारी टैक्स ही हैं जो पेट्रोल की क़ीमतों को 90 के पार (और कहीं-कहीं तो 100 के पार) पहुँचा दे रहे हैं। आज अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत 63 डॉलर प्रति बैरल है, यानी 159 लीटर की क़ीमत 63 डॉलर। यानी, प्रति लीटर पेट्रोल की अन्तरराष्ट्रीय क़ीमत है 0.396 डॉलर। *भारतीय रुपयों में प्रति लीटर कच्चे तेल की अन्तरराष्ट्रीय क़ीमत है मात्र 34.11 रुपये।* कच्चे तेल के एक लीटर के परिशोधन (refining) का ख़र्च है लगभग 3 रुपये। यानी, उपयोग योग्य प्रति लीटर पेट्रोल पर सरकार को ख़र्च करने पड़ते हैं कुल लगभग 37.11 रुपये। पेट्रोल की असल क़ीमत से 169 प्रतिशत ज़्यादा टैक्स हमसे वसूला जा रहा है यानी अपनी क़ीमत से दो गुने से थोड़ा कम!

करों का यह बोझ लगभग हर वस्तु को महँगा करने के लिए भी ज़िम्मेदार होता है क्योंकि पेट्रोल-डीज़ल के महँगे होने की वजह से लगभग हर वस्तु महँगी हो जाती है. यही हाल लगभग हर उस वस्तु का है जिसे मज़दूर और मेहनतकश जनता इस्तेमाल करती है. सच तो यह है कि मोदी सरकार के सत्तासीन होने के बाद से महँगाई बेतहाशा बढ़ी है! आटा, चावल, चीनी, वनस्पति तेल, अण्डा, दाल से लेकर कमरे का किराया, बस का किराया, मेट्रो का किराया 2014 के मुक़ाबले कई गुना बढ़े हैं! यह महँगाई किसी प्राकृतिक आपदा के कारण नहीं बल्कि मोदी सरकार के द्वारा जनता के ऊपर थोपे गये अप्रत्यक्ष करों के बोझ के कारण बढ़ रही है. वही अप्रत्यक्ष कर जी.एस.टी. और पेट्रोल-डीज़ल पर वसूले जाने वाली एक्साइज ड्यूटी के रूप में लगाया गया है।

जनता का जीना बेहाल अमीर होते मालामाल!

एक तरफ़ तमाम चीज़ों के दाम बढ़ते जा रहे हैं और दूसरी तरफ़ आम मेहनतकश आबादी की वास्तविक आय में या तो गिरावट आयी है या फिर वह लगभग स्थिर है। क्योंकि आम आबादी की ख़रीदने की क्षमता पहले से कम हुई है। वैसे तो तमाम पार्टियों की सरकारें पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमिटी का काम करती रही हैं, लेकिन मोदी सरकार ने पूँजीपति वर्ग की सेवा में पिछले सारे रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिये और नंगे रूप में बड़ी पूँजी की सेवा में संलग्न रही है, और हम इसपर कुछ कर न पायें इसलिए ही भाजपा सरकार, संघ और गोदी मीडिया बताता है कि इस देश में सबसे बड़ा ख़तरा मुसलमानों से है! साम्प्रदायिक ज़हर बोकर हिन्दू और मुसलामानों के झगड़े करवाकर सरकार हमारी लूट-खसोट को सम्भव बनाती है! आम जन इस मुद्दे पर कोई सवाल ना उठा सके इसलिए ही मोदी सरकार और संघ परिवार द्वारा जनता को धर्म-जाति-क्षेत्र-भाषा आदि में बाँटा जाता रहा है।

हमें यह पहचानना होगा कि हमारी दुश्मन यह मोदी सरकार है जो अमीरों की सेवा में संलग्न है। सरकार लगातार कॉरपोरेट कर और उच्च मध्य वर्ग पर लगने वाले आयकर को घटा रही है और इसकी भरपाई आम जनता की जेबों से कर रही है। भारत में मुख्यत: आम मेहनतकश जनता द्वारा दिया जाने वाला अप्रत्यक्ष कर, जिसमें जीएसटी, वैट, सरकारी एक्साइज़ शुल्क, आदि शामिल हैं, सरकारी खज़ाने का क़रीब 60 प्रतिशत बैठता है। यह वह टैक्स है जो सभी वस्तुओं और सेवाओं ख़रीदने पर आप देते हैं, जिनके ऊपर ही लिखा रहता है 'सभी करों समेत'। इसके अलावा, सरकार बड़े मालिकों, धन्नासेठों, कम्पनियों आदि से प्रत्यक्ष कर लेती है, जो कि 1990 के दशक तक आमदनी का 50 प्रतिशत तक हुआ करता था, और जिसे अब घटाकर 30 प्रतिशत तक कर दिया गया है। यह कॉरपोरेट और धन्नासेठों पर लगातार प्रत्यक्ष करों को घटाया जाना है, जिसके कारण सरकार को घाटा हो रहा है। दूसरी वजह है इन बड़ी-बड़ी कम्पनियों को टैक्स से छूट, फ़्री बिजली, फ़्री पानी, कौड़ियों के दाम ज़मीन दिया जाना, घाटा होने पर सरकारी ख़र्चों से इन्हें बचाया जाना और सरकारी बैंकों में जनता के जमा धन से इन्हें बेहद कम ब्याज दरों पर ऋण दिया जाना, उन ऋणों को भी माफ़ कर दिया जाना या बट्टेखाते में, यानी एनपीए (नॉन परफॉर्मिंग एसेट) बोलकर इन धन्नासेठों को फोकट में सौंप दिया जाना। अब अमीरों को दी जाने वाली इन फोकट सौगातों से सरकारी ख़ज़ाने को जो नुक़सान होता है, उसकी भरपाई आपके और हमारे ऊपर टैक्सों का बोझ लादकर मोदी सरकार कर रही है।

आज यह ज़रूरत है कि जनता को उनके असली मुद्दों पर एकजुट किया जाये और साम्प्रदायिक और फ़िरकापरस्त सरकार और उसके समर्थकों का असली 'चाल-चरित्र-चेहरा' सामने लाया जाये। महँगाई को भी सरकार ख़त्म कर सकती है. किस तरह? जनता से वसूले जाने वाले अप्रत्यक्ष कर को ख़त्म करे और अमीरों से इसकी भरपाई करे! **हम माँग करते हैं कि:**

1) सभी वस्तुओ व सेवाओं पर सभी अप्रत्यक्ष करों को तत्काल समाप्त किया जाये और प्रगतिशील कराधान तन्त्र के ज़रिये अमीर वर्गों पर कॉरपोरेट टैक्स, इनकम टैक्स, प्रॉपर्टी व उत्तराधिकार टैक्स के रूप में प्रत्यक्ष कर लगाकर सरकारी राजस्व एकत्र किया जाये। यह क़ीमतों के स्तर को सीधे आधा कर देगा।

2) महँगाई पर नियन्त्रण के लिए जमाख़ोरी, वायदा व्यापार (फ्यूचर्स ट्रेड) व सट्टेबाज़ी पर रोक लगाने के लिए सख़्त क़ानून बनाया जाये, जिसके तहत इन्हें दण्डनीय अपराध घोषित किया जाये।

3) बुनियादी वस्तुओं व सेवाओं के वितरण की व्यवस्था का राष्ट्रीकरण किया जाये और सरकार उसे पूर्णतः अपने हाथों में ले।

4) सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सार्वभौमिक बनाकर सभी नागरिकों को भोजन मुहैया कराया जाये।

क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा!

(पेज 18 से आगे)

राजनीतिक प्रचार, उद्वेलन और भण्डाफोड़ ही "जनता की तात्विक विनाशकारी शक्ति और क्रान्तिकारियों के संगठन की सचेतन विनाशकारी शक्ति को एक-दूसरे के क़रीब लाता है और उन्हे मिलाकर एक कर देता है।"

दरअसल अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार का लेनिनवादी विचार क्रान्तिकारी पार्टी की अवधारण से सीधे तौर पर जुड़ता है, जैसा कि हमने अपनी अब तक की चर्चा में देखा भी। लेनिन के लिए पार्टी निर्माण का कार्यभार और एक अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार की योजना वह साझा व सामान्य उद्देश्य और लक्ष्य था, जिससे रूस में क्रान्तिकारी कामों में व्याप्त बिखराव को दूर किया जा सकता था और क्रान्तिकारी गतिविधियों को स्वतःस्फूर्तता के क्षेत्र से बाहर ले जाकर सचेतनता के क्षेत्र में दाखिल कराया जा सकता था। यही वजह है कि अर्थवाद की प्रवृत्ति को लेनिन मज़दूर आन्दोलन में एक विजातीय और ख़तरनाक प्रवृत्ति के तौर पर देखते थे क्योंकि वह ठीक यही काम होने में बाधा उत्पन्न करता था। लेनिन, एक अखिल-रूसी अख़बार के इर्द-गिर्द निर्मित संगठन की योजना पर अमल करने के कई सारे कारण हैं और जो आख़िरी कारण है, उसे इस प्रकार रेखांकित करते हैं:

"इस प्रकार हम अब उस अन्तिम कारण पर आ जाते हैं, जो हमें एक साझा अख़बार के लिए मिलजुलकर काम करने के आधार पर, एक अखिल-रूसी अख़बार के गिर्द संगठन की योजना पर इतना ज़ोर देने के लिए विवश कर रहा है। **केवल एक ऐसा संगठन ही उस *लचीलेपन* की गारण्टी कर सकता है, जिसका एक जुझारू सामाजिक-जनवादी संगठन में होना आवश्यक है, अर्थात यह योग्यता कि संघर्ष तेज़ी से बदलती हुई विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अनुरूप वह तेज़ी से अपने को बदलता जाये, कि "एक ओर तो जब किसी दुश्मन की ताक़त अपने से ज़्यादा हो और जब उसने अपनी सारी शक्ति एक स्थान पर लगा रखी हो, तब वह खुली लड़ाई से बच जाये, और दूसरी ओर, वह इस दुश्मन के ढीलेपन से फ़ायदा उठा सके और उस पर ऐसे समय और ऐसे स्थान पर हमला करे, जब और जहाँ दुश्मन को उसकी सबसे कम आशंका हो।"** यह सचमुच एक बड़ी ग़लती होगी, यदि हम केवल विस्फोटों और सड़कों पर फूट पड़नेवाले संघर्षों की आशा से, या केवल "नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति" के आधार पर अपना पार्टी संगठन खड़ा करेंगे। हमें तो अपना रोज़मर्रा का काम हमेशा चलाते जाना है और सदा हर बात के लिए तैयार रहना है, क्योंकि बहुधा यह बताना असम्भव होता है कि विस्फोटों का काल कब समाप्त होगा और कब उसकी जगह शान्ति का काल आरम्भ होगा। **... और ख़ुद क्रान्ति को भी एक कार्य या घटना हरगिज़ नहीं समझना चाहिए (जैसा कि नदेज़्दिन जैसे लोग सम्भवतः समझते हैं); वह तो एक ऐसा क्रम होता है, जिसमें कमोबेश ज़ोरदार विस्फोट और कमोबेश पूर्ण शान्ति के काल बारी-बारी से बहुत जल्दी-जल्दी आते रहते हैं। इस कारण हमारे पार्टी संगठन की गतिविधियों का प्रधान तत्व, इस गतिविधि का प्रधान केन्द्र एक ऐसा काम होना चाहिए, जो ज़्यादा ज़ोरदार विस्फोट के काल में भी सम्भव तथा आवश्यक हो और पूर्ण शान्ति के काल में भी, अर्थात उसे राजनीतिक उद्वेलन का ऐसा काम होना चाहिए, जो सारे रूस में फैला हो, जो जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाले और जो जनता के अधिक से अधिक व्यापक हिस्सों के बीच हो। लेकिन आज के रूस में एक काफ़ी जल्दी-जल्दी निकालने वाले अखिल-रूसी अख़बार के अभाव में ऐसे काम की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इस अख़बार के चारों ओर जो संगठन अपने आप खड़ा होगा, उसके सहयोगियों का (यहाँ इस शब्द का हम उसके अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, अर्थात अख़बार के लिए काम करनेवाले सभी लोगों का) जो संगठन बनेगा वह क्रान्तिकारी काम की घोर "मन्दी" के काल में पार्टी के सम्मान, प्रतिष्ठा और निरन्तरता की रक्षा करने से लेकर देशव्यापी सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करने, उसका समय निश्चित करने और उसे सफल बनाने तक हर चीज़ के लिए तैयार रहेगा।"** (*ज़ोर हमारा*)

हम देख सकते हैं की एक देशव्यापी राजनीतिक अख़बार की लेनिनवादी अवधारणा कोई शुद्ध "कुर्सीतोड़" सिद्धान्त या हवाई बात नहीं थी बल्कि सीधे-सीधे कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण से जुड़ा हुआ प्रश्न था। अर्थवादियों की दिक़्क़त ही यही होती है कि अपनी राजनीतिक अंधता और सांगठनिक संकीर्णता के चलते उन्हे ये सारी बातें "जनता से काट देनेवाली" दिखलायी पड़ती हैं। जबकि जनता से सबसे घनिष्ठ रूप में सम्पर्क स्थापित करने के लिए क्रान्तिकारियों का यह कार्यभार है कि वे न सिर्फ़ शुद्ध आर्थिक संघर्षों से आगे बढ़ें और राजनीतिक प्रचार, उद्वेलन और भण्डाफोड़ की अनवरत कार्यवाई को बिना रुके बिना थके निरन्तरतापूर्वक चलायें बल्कि इसी प्रक्रिया में जनता से सीखते हुए उसे राजनीतिक तौर पर शिक्षित-प्रशिक्षित भी करें। इसलिए आज भारत के क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं और साथ ही आम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए अर्थवाद के खिलाफ़ लेनिन के नेतृत्व मे चले इस विचारधारात्मक संघर्ष का इतिहास जानना बेहद आवश्यक है ताकि आज भी आन्दोलन में मौजूद इस हानिकारक प्रवृत्ति के विरुद्ध वैचारिक और व्यावहारिक जंग छेड़ी जा सके।

अगले अंक में हम अब तक की इस पूरी चर्चा का एक समाहार प्रस्तुत करेंगे और अर्थवाद पर इस कड़ी को विराम देंगे। इसके बाद ही हम मज़दूर आन्दोलन में व्याप्त एक नयी विजातीय प्रवृत्ति पर अपनी बातचीत शुरू करेंगे।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

इन कम्पनियों के हाथ ग़ज़ा के बच्चों के ख़ून से रँगे हुए हैं!

इनके सामानों का बॉयकॉट करो!

20 वर्षों से जारी बीडीएस आन्दोलन ने नस्लभेदी, ज़ायनवादी इज़रायल को आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक रूप से भारी नुक्सान पहुँचाया है। यूरोप, एशिया, लातिन अमेरिका और अफ़्रीका के कई देशों में सरकारों और स्वायत्तशासी निकायों ने इज़रायल पर प्रतिबन्ध लगाये हैं, कई बड़ी कम्पनियों ने जनदबाव में इज़रायल से अपना निवेश वापस ले लिया है और स्टारबक्स, नाइकी, मैकडॉनल्ड जैसी कई कम्पनियों को कुछ देशों से अपना धन्धा समेटने पर मजबूर होना पड़ा है।

उन कम्पनियों के उत्पादों का बहिष्कार करो जो फ़िलिस्तीन के लोगों के जनसंहार में सीधे इज़रायल की मददगार हैं!

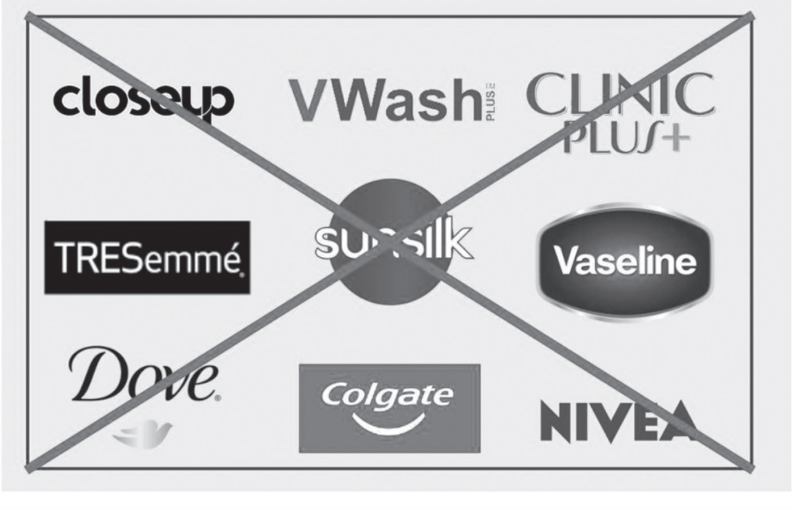

उन उत्पादों का इस्तेमाल ना करें जो इज़रायल के ज़ायनवादी राज्य और उसकी नस्लभेदी उपनिवेशवादी परियोजना का समर्थन करते हैं! फिलिस्तीनी अवाम के मुक्ति संघर्ष के साथ एकजुटता में बीडीएस आन्दोलन में शामिल हों!

हमारे लिंक ट्री के लिए यहाँ दिये गये QR कोड को स्कैन करें, संसाधनों तक पहुँचें और अधिक जानने के लिए हमसे सम्पर्क करें!

फ़ोन
70139 36466

BDS INDIA
FREEDOM JUSTICE EQUALITY
BOYCOTT DIVESTMENT SANCTIONS

BDSIndia bdsinindia |bdsinindia@gmail.com

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गाँधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006